लक्ष्मीकान्त वर्मा

कंचनमृग

कंचनमृग

लक्ष्मीकान्त वर्मा

की

नयी कविताएँ

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

अनुज तुल्य

श्री गिरीश कुमार वर्मा

को

आदर और स्नेह के साथ—

●

- आदि कवि महर्षि बाल्मीक ने रामायण में कंचनमृग के लीला भाव को ललित प्रसंग से करुणा तक पहुँचाया था,
- व्यास ने उसे महाभारत की विसंगतियों से उठाकर कलियुग की व्याख्या के लिए इस्ते-माल किया,
- मैंने केवल अपने युग के मारीच और उसके संदर्भ को प्रतिविम्बित करने की कोशिश की है।

तीनों का कवि एक ही है। संदर्भ-भेद युग का है।

अपनी बात : आज की कविता के साथ

यह एक अच्छी बात है कि आज की कविता में वास्तविक जीवन के संघर्ष का कथ्य उभर कर आ रहा है लेकिन यह भी एक बुरी बात है कि अच्छी बात भी बुरे ढङ्ग से कही जा रही है। वैसे लोग कहते हैं कि सत्य चाहे जैसे भी कहा जाय वह कहना चाहिए लेकिन कहना बात और है, वही सत्य जब लिखा जाये तो ढङ्ग से लिखा जाना चाहिए। लेकिन जो ढङ्ग से गद्य में लिखा जा सकता है जब कविता का विषय बन जाय तो ढङ्ग के साथ-साथ सुन्दर और रुचिकर भी होना चाहिए। रुचि का अर्थ आप सुरुचि न लें और लिजलिजी रुचि के साथ उसे न जोड़ें। प्रखर रुचि भी हो सकती है। और उस प्रखरता का भी अपना सौन्दर्य है। मेरा मतलब है कि वह सौन्दर्यात्मक संतृप्ति मिलनी चाहिए जो कविता के लिए वांछनीय है। शब्दों में अर्थों की व्यंजनायें गूँजे। पदों में समासों त्रिम्बों और बिम्बों की प्रतिछायें एक के अनेकतर संदर्भों को उद्घाटित करें, और सबसे बड़ी बात यह हो कि सत्य न तो निरामिश हो और न ही इतना अधिक झागदार हो कि असत्य लगने लगे। यह काम बड़ी साधना का है। हो नहीं पाता क्योंकि हम रागात्मक द्वन्दों में इतने जकड़े होते हैं कि उनसे तटस्थ नहीं हो पाते। कला की माँग तटस्थता की है। जब विषय वस्तु आपकी छाती से चिपका रहेगा और आप उसे बन्दर की तरह हृदय से चिपकाये ही रहेंगे तो वह चिपका-चिपका मर जायेगा और आप उस विषय वस्तु को नहीं उसके शववाहक होंगे। जो चीज छाती से चिपकी रहेगी वह आँख से नहीं दिखेगी। आँख से देखने के लिए कम-से-कम ग़ज़ भर की दूरी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो कविता नहीं बनती। आज की कविता तीन खतरों से गुजर रही है : पहली मुर्दा विषय-वस्तुओं से जो छाती से चिपकी हैं लेकिन जिनके बोझ को हम मोह वश ढोते हैं; दूसरी जो विषय-वस्तु को छाती से तो नहीं चिपकाये हैं लेकिन जो आँख में और विषय-वस्तु में इतनी दूरी ही नहीं रखते कि आँख सही ढङ्ग से देख सके, और तीसरी चीज़ है किसी भी विषय-वस्तु को आवश्यक दूरी पर रखकर उससे सम्बन्ध स्थापित करने की। पहली दो स्थितियाँ गँवरपन की है, नौसिखियों की हैं और ऐसे लेखकों की हैं जो

साहित्य में केवल पोस्टरबाज़ी अपना धर्म मानते हैं। तीसरी स्थिति उनकी है जो संस्कारहीन हैं, जो इतिहास से अनभिज्ञ हैं, जो देश की जलवायु, तापमान, धड़कन, पुरातत्त्व, धर्म मिथक परम्परा से ही अपरिचित हैं। ऐसा आदमी किसी भी अच्छे-से-अच्छे विषय वस्तु को, अनुभूति के गहरे-से-गहरे क्षण को, पकड़ नहीं पाता। वह ठीक वैसा ही है कि जैसे चमकीला पत्थर उसे मिल जाय और उसको परखने की उसमें तमीज़ ही न हो। यहाँ मैं एक बात और कह दूँ कि जब मैं संस्कार-बद्ध होने की बात करता हूँ तो उसी के साथ संस्कार-मुक्त होने की बात करता हूँ, जब मैं देश की जलवायु की बात करता हूँ तो इस जलवायु के बन्धन को तोड़कर भी लिखने की बात सोचता हूँ, जब मैं तापमान की बात करता हूँ तो तापमान के परे उससे ऊपर उठकर भी लिख सकने की क्षमता में विश्वास करता हूँ, जब देश की धड़कन की बात करता हूँ तो ठण्डेपन की भी कल्पना कर सकता हूँ, पुरातत्त्व के बन्धन, धर्म के उन्मेष और मिथक के प्रेरक तत्त्वों की अनिवार्यताओं को स्वीकारते हुए एक ऐसी भी स्थिति की कल्पना करता हूँ जहाँ हम इन सब के बन्धनों को तोड़कर लिखते हैं। लेकिन शर्त है तोड़कर और यह याद रखिये संरचनात्मक तोड़ना वही कर सकता है जो इन सारे सन्दर्भों को जिया हो। जिसने देश को जाना ही नहीं, जलवायु की सर्दी-गर्मी सहन ही नहीं की, इतिहास को पहचाना नहीं, धर्म, पुरातत्त्व मिथक में रमा ही नहीं वह कम-से-कम रचना में उन्हें तोड़कर या उनसे ऊपर उठकर कुछ भी ऐसा नहीं लिख सकता जो सार्थक हो। वह केवल हवा की पेंच से कुछ सतही बुलबुले ही पैदा कर सकता है जो हवा की पेच समाप्त होने के बाद टूट जायँगे। यह मेरा अनुभव है। जिसको मैं चूंकि अपने लिए सत्य मानता हूँ इसलिए अपना हक़ समझता हूँ अपने सत्य में आपको भी शामिल कर लूँ। हो सकता है आप इस दायरे में न आते हों फिर भी जो आते हैं उनके लिए यह कह देना आवश्यक है।

इधर कविता ठण्डी है लेकिन कविता की अलख जगाने वाले कई मसीहा पैदा हो गये हैं। उनमें से कुछ तो पुराने हैं और कुछ ऐसे हैं जो नये हैं लेकिन मसीहाई की कला में इतने निपुण नहीं हैं जितने कि होने चाहिए। जो पुराने हैं वह यह भूल गये हैं कि ज़माना बदल गया है। अब आप गुलेल से शिकार नहीं कर सकते। जो नये हैं उनमें से कुछ सरकारी अफ़सर हैं जो कविता के नाम पर रद्दी सद्दी सही-ग़लत, सबको सरकारी मुहर के नाम से चलाना चाहते हैं। इन नयों से मुझे यह कहना है कि भाई इतिहास में दूसरा मोहम्मद तुग़लक़ नहीं पैदा हुआ क्या अब वह साहित्य में अवतरित होगा। यदि सरकारी खज़ाने से कुछ कर सकते

हो तो लेखकों को राहत दो लेकिन उस राहत को राहत कहो उसे साहित्य का मुहर लगाकर उन समस्त मूल्यों को मत तोड़ो जो साहित्य को बनाते हैं उसे जीवित रखते हैं। स्थिति का व्यंग्य यह है कि यह मसीहे अकेले में एक-दूसरे को गाली देते हैं लेकिन जब साहित्य में फ़ैसले देने होते हैं तो यह एक जुट हो जाते हैं। यह किस लिये और क्यों ? कहीं यही तत्त्व तो कविता के गले में फ़ासी की रस्सी नहीं बन रहा है।

आज जिन विसंगतियों से हम गुज़र रहे हैं उनमें कविता का ठण्डा होना स्वाभाविक है क्योंकि कविता वहाँ कारगर होती है जहाँ संवाद होता है। संवाद में कविता उजागर होती है। इधर या तो समाज प्रतिबद्ध हो रहा है, या स्तब्ध हो रहा है या केवल अवरुद्ध हो रहा है। प्रतिबद्ध समाज, समाज नहीं सर्कस का जीव है। वह प्रतिबद्ध होता है तो या तो शिकंजों में जीता है या सर्कस मैनेजर के बिजली वाले हण्टर के इशारे से जीता है। उस प्रतिवद्धता का कोई अर्थ नहीं है जिसमें केवल मूल्यों की मुर्दा खाल की दुहाई दी जाती है। प्रति-बद्धता हमेशा गति के साथ होती। समाज को भी उसी गति की सापेक्षता में लेना उचित है और मूल्य तो उस गति के साथ विकसित ही होते हैं। प्रतिबद्धता को गति सापेक्ष और मूल्य सापेक्ष कहें तो बात ज्यादा साफ़ हो सकती है लेकिन अच्छे मसीहे कुएँ में डालकर प्रतिबद्ध बनाते हैं तो आश्चर्य होता है। उसी प्रकार स्तब्ध समाज की भी बात हैं। यह समाज स्वयं ठहरा देश-काल से परे स्थिर और जड़ समाज होता है। इसके पास केवल अतीत है भविष्य तो है ही नहीं। यह धीरे-धीरे स्वयं समाप्त हो जाता है इन दोनों से अलग एक तीसरी स्थिति अवरुद्धता की भी होती। प्रतिबद्ध अवरुद्ध समाज नहीं होता। प्रतिबद्ध मूल्यों को ओर समाज को स्थिर मानकर प्रतिबद्ध होता है। अवरुद्ध समाज के पास बिराट् अतीत भी होता है और उज्ज्वल भविष्य भी केवल वह वर्तमान की सीमायें तोड़ने की कोशिश में लगे रहने पर भी उन्हें तोड़ नहीं पाता। साहित्य कला का धर्म है कि उस अवरुद्धता को हटाये। अवरोध हटने पर भविष्य बना लेने की क्षमता उसमें अपने आप पुरुषार्थ से पैदा होगी। प्रतिबद्ध पुरुषार्थ को बाँध देता है। स्तब्ध समाज में वह होता ही नहीं। अवरुद्ध समाज में पुरुषार्थ होता है, वह बेचैन समाज होता है और उस बेचैनी में इतनी ताक़त होती है कि वह अवरोध को ढहा कर आगे बढ़ सके। आगे का भविष्य उस समाज की शक्ति से बनेगा न कि किसी अदालती हलफ़नामे से। लेकिन कौन कहे इनसे यह एक लटका दे देते हैं, उसकी पूरी व्याख्या भी नहीं करते हैं, बस

सम्पूर्ण चेतना को कुण्ठित करके अपना यज्ञ करने के बाद मंत्र को भी यों ही छोड़ देते हैं।

कविता के साथ प्रतिबद्ध शब्द मैं जोड़ना नहीं चाहता क्योंकि कविता अपने आप में एक समन्वित निष्ठा है। कविता कविता के ही प्रति समर्पित होगी तभी कविता बनेगी। कविता लेखक के बस की भी चीज नहीं है वह अनुभूति के आयामों से निकलती है। अनुभूति भी एक आयामी नहीं होती। उसका केवल माहौल कवि के पास होता वृत्त कितना विस्तृत है और कितना गहरा इसको धारण करने वाला वह समूचा संकाय है जो कविता में संगठित होकर स्ट्रक्चर के रूप में अवतरित होता है। वह सदैव अज्ञात रहता है। देश, काल, स्थिति इतिहास, ज्ञान पुरातत्त्व मिथक यह सबके सब उस घनीभूत अनुभूत क्षण में अन्तः सलिला की तरह प्रवाहित होते रहते हैं और कब क्यों और कैसे कविता में अवतरित होते हैं इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी वह प्रतिबद्ध रूप में भी व्यक्त हो सकते हैं लेकिन जितनी कसरत और व्यायाम के साथ प्रतिबद्धता के दावेदार उसको आरोपित करते हैं उस रूप में नहीं। कविता के लिए आवश्यक है खुली मानसिकता। कविता के लिए आवश्यक है खुली संवेदना। कविता के लिए आवश्यक है खुला वातावरण क्योंकि अन्ततोगत्वा वह मनोमय शरीर की अभिव्यक्ति है और मनोमय शरीर की पहली शर्त है आबद्धहीन होना, मुक्त होना खुला होना। यदि हम मनोमय शरीर और आनन्दमय स्थिति की यात्रा करते होते हैं तो उसमें वर्जित कुछ नहीं है केवल एक ही अनुशासन वहाँ काम करेगा और वह है संगठनात्मक अवतरण का अनुशासन। वह स्वयं चुनाव करेगा, वह स्वयं त्याग करेगा वह स्वयं ज्ञान विज्ञान के कोश को बेधकर उसके माध्यम से अवतरित होगा। शब्दों को नयी तरतीब देगा और उन तरतीबों को अर्थवत्ता तक ले जायेगा। यह एक तात्त्विक स्थिति है जिससे होकर कवि रचनाकार की मानसिकता गुज़रती है। इसमें कोई भी पूर्वग्रह काम नहीं करता और यदि कोई उसमें उस पूर्वग्रह को ज़बर्दस्ती ठूंसता है या उसमें घाल-मेल करता है तो दुर्घटना ही होती है। कविता मर जाती है।

कविता का मर जाना मात्र दुर्घटना नहीं है। वह आँखें होते हुए भी अन्धा होना है। वह कायिक संज्ञा होते हुए भी आत्मिक पहचान खोना है। मनुष्य रूप में तो प्रेत और पिशाच भी देखे जा सकते हैं लेकिन आत्मिक स्वरूप के अभाव में ही प्रेत पिशाच बनते हैं। प्रेत पिशाच भी बोल सकते हैं, लिख सकते हैं लेकिन वे कविता नहीं लिख सकते। प्रेत अपना अतीत ढोने वाला होता है। पिशाच अपने मनस्ताप में जलने वाला होता है। दोनों ही प्रतिबद्ध होते हैं।

दोनों ही अपने आवेश में बोल सकते हैं, लिख सकते हैं लेकिन वह कविता नहीं होगी। वह बोझ और मनस्ताप मात्र की अभिव्यक्ति होगी। कविता यह दोनों नहीं है। जब यह दोनों स्थितियाँ तिरोभाव में होती है तो कविता का अविर्भाव होता है। पुनर्भाव में दर्शन जन्म लेता है। प्रतिबद्धता हमें केवल तिरोभाव तक ही सीमित रखने के लिए बाध्य करती है। अविर्भाव और पुनर्भाव की स्थितियाँ हमसे छूट जाती हैं। पुनर्भाव में अविर्भाव की पुनर्वृत्ति तो हो सकती है किन्तु तिरो भाव की स्थिति से सीधे पुनर्भाव की स्थिति में पहुँचना कठिन होता है। होगा भी तो अप्राकृतिक और विकृत होगा। वस्तुतः एक विशिष्ट वर्ग ने अपनी व्याख्याओं मेंकविता को इन्हीं घाटियों में उलझा दिया है। यों कवि के पल्ले यह सारी बहसें नहीं पड़ती। उसके लिए वह निर्थक होती है लेकिन यह पेंच लड़ाने वाले करते यह हैं कि कुछ को अपने घेरे में ज़बर्दस्ती ले लेते हैं और फिर शेष को दूसरे घेरे मेंडाल देते हैं और तब स्वयम् अपनी रणनीति चलाते हैं। आज एक बार कविता फिर इन्हीं वृत्तों में घुट रही है। यह एक ख़तरा है जो कविता को नहीं एक प्रकार के नक़ली आन्दोलनों को जन्म देगा जिससे लाभ मसीहाई करने वालों को होगा कविता या साहित्य का नहीं।

इसके विपरीत कविता की ठहरी हुई स्थिति के कारण और हैं। हम एक इतने विराट् और विशाल संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं कि उससे मुक्त नहीं हो पाते। वह संस्कृति हमारे भीतर है। बाहर वह ढह रही है। जैसे-जैसे बाहर वह ढहती है, वैसे-वैसे भीतर उसकी जड़ें मजबूत होती जा रही हैं। विसंगति इस भीतर के और बाहर के अन्तर्विरोध का आज गहरा गया है। बाहर कुछ भी ऐसा नहीं बचा है जिसमें हम अपनी पहचान पा सकें। धर्म, दर्शन, इतिहास पुरातत्त्व मिथक यह सब टूटे हुए हैं बिखरे हुए हैं, संदर्भहीन कर दिये गये हैं। किन्तु भीतर यह हैं। धर्म के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में, या दर्शन को स्वीकारने में, या इतिहास पुरातत्त्व से जुड़ने में या मिथकों को जीवन में संक-लित करने में हमें दुहरी चेतना से काम लेना पड़ता है और अन्तर के सत्य और बाहर के झूठ से जूझना पड़ता है। मूल विसंगति यहाँ है क्योंकि किसी भी देश की कविता चाहे जितनी विश्व संवेदना की नैसर्गिकता को लेकर चले, चलेगी वह उतनी ही दूर जितनी दूर तक और जितनी गहराई के साथ अपनी संस्कृति के साथ अपनी संस्कृति से जुड़ी होगी। संस्कृति का बाह्य रूप जब पहचान में नहीं आता तब वह भीतर के तिरोहित भावों में भी विखण्डिन होता है। आज की कविता इस बिखराव को जोड़ नहीं पा रही है इसीलिए उसमें भाग-दौड़ नज़र आती है। कविता का कोई विषय नहीं होता। हर विषय में कविता इन्हीं

संस्कारों के माध्यम से बोलती है। जब संस्कार गूंगे होते हैं कविता गूंगी हो जाती है।

कुछ लोग समझते हैं कि इस गूंगेपन की दवा वैदिक ऋचाओं में है, उपनिषद् की शब्दावली में है, तंत्र के मंत्रों और वैष्णवों के भाव प्रवण प्रवाह में है। वह यह भी सोचते हैं कि उन शब्दों के रटने या उनकी पुनरावृत्ति मात्र से कविता का गूंगापन समाप्त हो जायेगा। यदि यही हो सकता तो फिर क्या नहीं हो सकता। कविता उससे भी नहीं बनेगी और यदि बनेगी भी तो वह आज के यथार्थ से नहीं जुड़ेगी अर्थात् अपने कथ्य में और अपने ही जीते जागते सत्य में कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पायगा। व्यंग्य उस कविता का यह होगा कि स्वयं उस लोक के रहते वाले लोग भी उतर आये तो भी उन्हें वह रास नहीं आयेगी। फिर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या आज का यथार्थ जिसे मैं और दूर तक ले जाता हूँ और कहता हूँ कि नितान्त समसामयिक क्षण का यथार्थ, जब तक हमारी पकड़ में नहीं होगा, हम उसके भोक्ता नहीं होंगे, हम उसके साथ टकरायेंगे नहीं तब तक न तो संस्कारों की परीक्षा होगी, न भाषा की, न संवेदना की गहराइयों की और न ही संकलित कथ्य की। यथार्थ एक साक्षात्कार है जिसे नकारा नहीं जा सकता। उसके साथ कोई और पर्याय भी नहीं जोड़ा जा सकता और न कोई विशेषण ही जोड़ा जा सकता है क्योंकि वह सदैव गतिशील होता रहता है। जड़ नहीं होता। यह बात अलग है कि समाज शास्त्री, दार्शनिक, वैज्ञानिक, मनोग्रंथियों के अध्येयता को वह विभिन्न रूपों और आयामों में दिखेगा लेकिन यह रूप भेद नहीं दृष्टि भेद से उद्भूत होगा।

कवि का यथार्थ उसका अपने सांस्कृतिक मूल्यों का यथार्थ होता है और वह उसी के माध्यम से उसे देखता है। दण्डकारण्य में चलते-चलते राम जब अस्थि समूह को देखते हैं और पूछते हैं कि यह अस्थियाँ किनकी है और पता चलता है कि वह ऋषियों की है या दूसरे शब्दों में उन मनुष्यों की है जिन्हें राक्षसों ने मारकर यहाँ फेंका है, तो 'निशचरहीन' करने का प्रण लेते हैं। राम ने उस यथार्थ को जिस रूप में आत्मसात् किया वह प्रण का था लेकिन जिस कार्य ने उसका साक्षात्कार किया उसमें राम और राम के साथ राम का रामत्व भी शामिल था और था उसके साथ उसका निर्णय जिसे वह 'निशिचरहीन' करने के प्रण के साथ राम से कहलवाता है। कवि का यथार्थ उसके सौन्दर्य का यथार्थ होता है, बनते-बिगड़ते मूल्यों का यथार्थ होता है, उन सांस्कृतिक स्तरों का यथार्थ होता है, जो सारी संवेदनाओं को मूल्यों के धरातल तक ले जाता है और कभी-कभी उनके तरतीबों को बदलने की प्रेरणा भी देता है।

यथार्थ को कुछ लोग स्थिर सत्य के रूप में भी ग्रहण करते हैं लेकिन वह यह भूल जाते हैं कि यथार्थ एक सत्य नहीं बहु आयामी सत्यों से आलोकित स्थिति है जो प्रतिक्षण गतिशील रहती है। जैसा मैंने ऊपर कहा है यथार्थ जड़ वस्तु नहीं एक गतिशील ग्राह्यता है। जो उसे स्थिर मानते हैं वह उसके स्वरूप उसकी प्रकृति, उसके गुण और प्रभाव को जाने बिना उसके प्रक्षेपों से अपने को जोड़ते हैं। यह प्रक्षेपण उनका अपना होता है स्वयं यथार्थ में नहीं होता। यथार्थ एक वस्तु स्थिति और एक मूल्यों की स्थिति की टकराहट को जन्म देकर आगे गतिमान होता है। उस झटके में मूल्य भी लड़खड़ाते हैं और वस्तु स्थितियाँ भी लड़खड़ाती है। बाल्मीकि ने जब क्रौंच पक्षी को गिरते देखा तो एक वस्तु स्थिति ने जन्म लिया और उसने ऋषि के सारे मूल्यों को झनझना दिया। इन दोनों की टकराहट यथार्थ है जो उसके अस्तित्व को चुनौती देती है। यथार्थ उसके आगे बढ़ जाता है और उस कवि से राम कथा भी कहला देता है। यथार्थ केवल एक बिन्दु पर यदि जड़ हो तो उससे लड़ने की आवश्यकता भी नहीं होती। वह अनेक रूपों में अनेक सन्दर्भों में, अनेक समस्याओं के साथ हमेशा जीवन के साथ रहता है, इसलिए यथार्थ का न तो एक स्थिर रूप है और न ही उसके प्रति कोई एक नज़रिया ही बनाया जा सकता है। यथार्थ जिस टकराहट से जन्मता है उसमें कुछ विसंगतियों को जन्म देकर आगे बढ़ जाता है। ये विसंगतियाँ ही हमारे पल्ले पड़ती हैं।

कविता में यह विसंगतियाँ कैसे अभिव्यक्ति पाती है यह एक प्रश्न है और कविता इन विसंगतियों के बीच जीती जागती हुई उदात्त मूल्यों की रक्षा करती है यह उसी प्रश्न का दूसरा पहलू है। जिनको वेदों उपनिषदों में जाकर आराम मिलता है उनसे भिन्न उसकी स्थिति होती है जो उन विसंगतियों के बीच खुद अपने को और अपनी कविता को जीवित रखना चाहता है। मेरी मूल समस्या यही है मैं अपने युग की विसंगतियों से हटकर नहीं जी सकता। मैं उनके साक्षात्कार में ही जीता हूँ। कविता उसी में से बनती है और उसी में से निकल कर वह मुझे उदात्त मानवीय संदर्भों से जोड़ती भी है। क्या कोई भी भावना बिना नितान्त वर्तमान को अपने में समेटे सच्ची हो सकती है। उड़ान चाहे जितनी ऊँची हो उसका यथार्थ हमेशा धरती पर होगा और वह जो उदात्त है वह उसी यथार्थ का एक पक्ष होगा। यथार्थ के मटमैले रंग से जिनको परहेज हो उन्हें साहित्य और कविता न करके गुलकारी का काम करना चाहिए, क्योंकि यथार्थ हमेशा मिट्टी में सना होगा, गंदला होगा और यदि हम आकाश गंगा तक की उड़ान क्यों न लें हमें यह नही भूलना होगा कि स्वयम् आकाश

गंगा हैरान दृष्टि से उसी गन्दले यथार्थ को अहिर्निशि घूरने वाली गंगा है। तभी वह गंगा हो भी सकती है। तुलसीदास को भी जब अपनी कविता का रूपक देना हुआ तो उन्होंने उसे 'सुरसरि' या 'सरयू' ही कहा। दोनों ही सब का हित करती है और उस यथार्थ को लेकर चलती हैं जो विसंगतियों में व्याप्त है।

आज का जीवन जितना विषम है कविता भी उतनी ही विषम होगी। जो लोग इसमें वह तराश या खराश ढूंढ़ेंगे या जो इसमें रंगीन तस्वीरें ही ढूंढ़ना चाहेंगी वह जरूर निराश होंगे क्योंकि साहित्य आदमी लिखता है और आदमी वही होता है जो समाज परिवेश और वातावरण को झेलता है। इस झेलने के साथ यदि कविता निकलेगी तो उसमें खराश होगी और अगर खराश होगी तो खुर्दुरी होगी कहीं-कहीं सपाट होगी और कहीं बेबाक भी होगी। मैं इसमें कोई दोष नहीं मानता लेकिन कलाकार के नाते यह जरूर चाहता हूँ कि जो भी खराश कविता में हो वह सिर्फ खराश ही न हो कुछ और भी हो यानी खराश के साथ ढंग हो और यह पता चले कि आप उस खराश को किस रूप में ले रहे हैं और उसका आप इस्तेमाल कर रहे हैं या वह आपके चेहरे पर दाग की तरह है जख्म या नासूर की तरह है। मैं समझता हूँ कवि होने के नाते इतनी मांग हर कवि की होगी और स्वयम् उसकी अपनी रचना धर्मिता में इसकी संगति भी होगी। यदि जिन्दगी की सारी कड़ुआहट केवल कड़ुवाहट ही को जन्म देगी तो रचना क्या होगी। रचना तो तब होगी जब कड़ुआहट के साथ —कड़ुआहट को त्याग कर नहीं—कुछ और भी तत्त्व मिलेंगे। यदि हमें केवल बिषमता से विषमता ही पैदा करना है तो हमने सृजन का धर्म नहीं निभाया है। सृजन का धर्म तब मिलेगा जब विषमता के साथ साथ हमारी सृजन शीलता भी कविता में आये।

सामाजिक यथार्थ वाले चिन्तक विचारक को यह लग सकता है कि यह "कुछ और की माँग" क्या है ? मैं समझता हूँ कि इस 'कुछ और' की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि वह, वह सब कुछ है जो साहित्य, कला, कविता को कविता बनाता है। कविता जैसे शब्द नहीं है, छन्द नहीं है, लय नही है, गति नहीं है, कविता यह सब होते हुए कुछ और है, ठीक उसी प्रकार यथार्थ मात्र खराश नहीं है, विषमता नहीं है, वह मात्र गुस्सा, खीझ, बौखलाहट नहीं है, यथार्थ यह सब होते हुए भी खराश की स्थिति के परे भी है। उस आयाम की तलाश हमेशा एक सच्चा सजग समाज-शास्त्री, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक भी करता है और कवि भी करता है। किसी ने कहा है कविता पंक्तियों के बीच में होती है

शब्दों और पंक्तियों में नहीं होती । ठीक उसी तरह वह जो पंक्तियों के बीच की गूँज होती है वही कविता होती है । यथार्थ के व्याख्याकार या तो इस गूँज को व्याख्या करने की प्रक्रिया में ही उसे मार डालते हैं या फिर, इस गूँज को निरर्थक घोषित करके उस कविता की संभावना को नष्ट कर देते हैं । लेकिन इस अज्ञात को घटित होने देना चाहिए । इस गूँज को ऐसी बनाना चाहिए कि वह सर्वदेशिक होने के साथ साथ मानवीय भी हो, और वह हर व्यक्ति की हो । यथार्थ इस सीमा तक जाने से कवि को वर्जित नहीं करता, किन्तु मात्र विषमता और कविता को जोड़ देने से भी वह बात नहीं बनती । वह बहुत कुछ कवि के व्यक्तित्व से सम्बन्धित है । उसकी संस्कारिता से सम्बन्धित है । जितना उदात्त उसका व्यक्तित्व होगा, जितनी गहरी उसकी संस्कारिकता होगी, जितना व्यापक उसका क्षेत्र होगा, जितना बहु आयामी उसके सम्पर्क होंगे, उसी के अनुसार उसकी कविता भी बनेगी, लेकिन बनेगी तभी जब अनुभूति की कड़ी इन सब को छूते हुए इनके बीच से गुजर कर इनके एहसास को लेगी इनके अनगढ़ पन को नहीं । कविता को एक दृष्टि से देखा जाय तो वह एक अनुभूति से दूसरी अनुभूति तक की यात्रा है । यथार्थ दूसरी अनुभूति तक पहुँचते पहुँचते स्वयम् भी एक दूसरा रूप ले लेता है और फिर उस अनुभूति से तीसरी अनुभूति तक वह निरन्तर नये नये संदर्भों से संयुक्त होता चलता है । इस निरन्तरता के प्रवाह में कविता की गूँजे भी निरन्तर नये अर्थ बोधों और सम्बन्धों को विकसित करती चलती है ।

इधर अज्ञेय ने साहित्य और कविता के सम्बन्ध में दो और नारे दिये हैं । पहला नारा तो है "**नैतिक यथार्थ**" का और दूसरा है "**संघर्ष बनाम महा करुणा**" का । इन दोनों की चर्चा करना इसलिए आवश्यक है कि दोनों का सम्बन्ध साहित्य से है और दोनों की चर्चा इधर हुई है । सब से पहले "नैतिक यथार्थ" की अवधारण को ही लें । नैतिक यथार्थ क्या है ? यदि यथार्थ मात्र सामाजिक नहीं हैं तो वह मात्र नैतिक कैसे हो सकता है । यथार्थ तो अनैतिक होता ही नहीं । वह सदा सर्वदा नैतिकता और वस्तु स्थिति के विस्फोट में जन्मता है । नैतिक मूल्य जब स्थिर होते हैं और वस्तु स्थिति अवमूल्यन की होती है तब इनका द्वन्द्व ही यथार्थ होता है । इस द्वन्द की स्थिति में जो सत्य है वही यथार्थ है । फिर क्या सत्य भी अनैतिक हो सकता है ? यदि नहीं हो सकता तो "नैतिक यथार्थ" का अर्थ क्या है ? और यदि कोई अर्थ है तो उसकी संगति साहित्य से कैसे बैठती है विशेष कर कविता के साथ कैसे बैठेगी ? यथार्थ बहु आयामी होता है क्योंकि वह द्वन्द्व की उपज है । बहुआयामी यथार्थ क्या किसी

स्थिर नैतिकता के साथ जुड़कर मूल्यवान हो सकता है ? क्या वह स्वयम् मूल्यों के संक्रमण से उपजा हुआ स्वतः मूल्यवत्ता की ओर संकेत नहीं करता ? यथार्थ की पकड़ क्या है ? उसकी पहचान क्या है ? यदि वह मूल्यों के अभाव की स्थिति है तो फिर वह मूल्यों की प्रेरक शक्ति है । यदि वह अवमूल्यित वस्तु स्थिति और स्थिर नैतिकता की उपज है तो उससे फिर नैतिकता को जोड़ना क्या है ? वह तो दो अनैतिक स्थितियों से पैदा हुई अनैतिकता स्वयम् है । "नैतिक यथार्थ" का इस दृष्टि से महत्त्व क्या है ?

एक अर्थ इस "नैतिक यथार्थ" का और हो सकता है और वह यह कि किसी अवमूल्यित वस्तु स्थिति और स्थिर नैतिकता के बीच जो यथार्थ जनमता है उसका मूल्यांकन सामाजिक दृष्टि से न करके नैतिक दृष्टि से किया जाय ? यहाँ अज्ञेय सामाजिकता और नैतिकता में भेद करते हैं । सामाजिक दृष्टि से किसी वस्तु स्थिति को देखना क्या स्वयम् में नैतिक नहीं है ? क्या बिना किसी नैतिकता के कोई सामाजिक दृष्टि हो सकती है ? क्या सामाजिक यथार्थ इतना घटिया और नैतिक यथार्थ नाम की—यदि कोई स्थिति हो सकती है—तो इतनी उदात्त है कि उसके लिए सामाजिक यथार्थ छोड़ा जा सकता है ? मेरी समझ में नहीं आता कि सामाजिक यथार्थ से इतनी चिढ़ क्यों है ? सामाजिक यथार्थ का बोध स्वयम् में एक नैतिक बोध है फिर इसकी जगह नैतिक यथार्थ जैसा खोखला और संदर्भहीन शब्द के अर्थ क्या होंगे ? ठीक है यदि साम्यवादी सामाजिक यथार्थ शब्द का दुरुपयोग करते हैं तो उस गलत इस्तेमाल को काटिये न कि उसकी जगह एक ऐसा शब्द दीजिए जिसका कोई अर्थ ही न हो ।

नैतिक यथार्थ मुझे "मारल री आर्मामेन्ट" जैसी चिन्तन पद्धति का शब्द लगता है जिसकी सार्थकता भारतीय समाज की संरचना से मेल नहीं खाती । यथार्थ जो भी होता है जैसा भी होता है वह नैतिकता को लेकर होता है । यथार्थ के बाहर की नैतिकता भी अयथार्थ यथार्थ जैसी कोई चीज होगी । सामाजिक यथार्थ एक वस्तु सत्य है जैसे जहेज को लेकर भारतीय समाज में जो विसंगतियाँ पैदा होती है और दर्जा बदर्जा पैदा होती है और वह जो वस्तु स्थितियाँ में अव-मूल्यन पैदा करती है वह यथार्थ है । उसका बोध होना अपने में एक नैतिक प्रक्रिया की ओर अग्रसर होना है । इस अग्रसर होने में नैतिक यथार्थ क्या करेगा ? क्या नैतिक यथार्थ का बोध कुछ भिन्न होगा ? यदि नैतिक यथार्थ का भिन्न बोध है है तो सामाजिक यथार्थ उस से कटता कहाँ है ? सामाजिक यथार्थ का स्वरूप एक ऐसा सत्य है जिससे कतराया नहीं जा सकता । जहाँ तक मैं समझता हूँ यह नकारात्मक और निकम्मा बनाने वाली दृष्टि है । इस नैतिक यथार्थ में

जिस सामाजिकता का निषेध है, या जिस सामाजिकता की प्रतिद्वन्दता में यह शब्द गढ़ा गया है, वह सौन्दर्यात्मक दृष्टि को बनाने में भी सहायक नहीं होता। एक गुलाब का फूल नैतिक यथार्थ के नाते सुन्दर नहीं है, एक कविता अपनी संरचना में नैतिक यथार्थ के बल पर नहीं खड़ी हो सकती। गुलाब का फूल एक परिवेश से दूसरे परिवेश तक की यात्रा में खिलता है। एक कविता एक अनुभूति से दूसरी अनुभूति की सीमा के बीच की यात्रा है। जहाँ से शुरू होती है उसकी परिणति तक पहुँचना उसकी संरचना की माँग है, नैतिक यथार्थ की माँग नहीं है।

सौन्दर्यानुभूति एक आत्मोपलब्धि कि प्रक्रिया है। उसकी जड़ें समाज में हैं और होती हैं। 'एक' होना भी समाज का होना है। समाज के अभाव का एहसास भी सामाजिकता है। समाज की सामाजिकता तो है ही। यदि साहित्य संवाद है तो साहित्य समाज से पृथक नहीं हो सकता। यदि साहित्य को आत्म संवाद भी मान ले तो यह 'आत्म' भी समाज का ही अंश है। फिर उस सामाजिक यथार्थ को नकारने से लाभ। उसको नकारना उतना ही बड़ा दुराग्रह है जितना बड़ा दूराग्रह कि केवल सामाजिकता को साहित्य का आधार मानकर शेष अन्य अंगों उपांगों को नकारना। साहित्य में सामाजिक यथार्थ उतना ही मूल्यवान है जितना उस यथार्थ का सौन्दर्यात्मक सृजन। न तो बिना सौन्दर्य दृष्टि के साहित्य बन सकता और न ही सामाजिक यथार्थ के ज्ञान के बिना स्वस्थ सौन्दर्य दृष्टि बन सकती है और जब दृष्टि होगी तो सौन्दर्य भी नैतिक होगा और साहित्य भी। इसलिए यह कहना कि सामाजिक यर्थार्थ की जगह नैतिक यथार्थ मूल्यवान है वैसा ही है जैसे आम से ज्यादा बबूल मूल्यवान है। सामाजिक यथार्थ का संकुचित और साम्प्रदायिक उपयोग करने वाले कुछ लोग हो सकते है लेकिन उन कुछ लोगों कीं कुण्ठा से त्रस्त हो कर पूरे सामाजिक यथार्थ को नकारना केवल आत्म प्रवंचना का परिचय देना है और कुछ नहीं।

ठीक इसी प्रकार नितान्त नकारात्मक दृष्टि का आत्मघाती नारा "संघर्ष" की जगह "महाकरुणा" का नारा लगाना है। क्या महाकरुणा बिना किसी सामाजिक यथार्थ के संभव है। इस से भी आगे क्या महाकरुणा अकारण व्याप सकता है। आध्यत्मिक स्तर पर प्रभु की महाकरुणा भी अपनी सृष्टि के प्रति होती है और वह दूसरे शब्दों में सृष्टि संरचना की चरम परिस्थिति होती है। अपने आप अपनी ही कृति के प्रति द्रवित होना ईश्वर का गुण हैं। ईश्वर की अहेतुकी कृपा के कई आयाम होते हैं लेकिन मनुष्य की आदिम करुणा का स्रोत सदैव से ही संघर्ष रहा है। बिना संघर्ष के करुणा क्या होगी और बिना अन्याय के

प्रति आक्रोश के संघर्ष क्या होगा। अज्ञेय जब महाकरुणा की बात करते हैं तो वह महाकरुणा को संघर्ष का विरोधी तत्त्व मान कर बात करते हैं। वह भूल जाते हैं कि जिस करुणा का साक्षात्कार महात्मा बुद्ध ने बोधितत्त्व में किया था वह एक निरन्तर संघर्ष और उस संघर्ष के फलस्वरूप महानिभिष्क्रमण का परिणाम था। जिस महाकरुणा से ओत प्रोत दर्शन हमें ईशू में होते है वह निरन्तर संघर्षरत मानवीय पीड़ा का सहभोगी, घायल जख्मी, रोगी के जख्मों पर हाथ रखकर उनकी वेदनाओं का साक्षात्कार करने वाला ईशू है, और निरन्तर सांस्कारिक अन्याय के विरुद्ध आत्मबल के सहारे विद्रोही की करुणा है। तभी वह सलीब पर भी अपने को टाँग सकता है और तभी वह अधिकारी होता है कि वह अन्तिम साँस तक शत्रु को भी सद्‌बुद्धि प्राप्त हो ऐसी प्रार्थना कर सके है। अज्ञेय की यह अवधारण कि संघर्ष को हटाकर महाकरुणा की बात की जाय अपने आप में तर्क संगत नहीं है। वह ऐसी मानसिक स्थिति है जिसमें तत्त्व आधारहीन है।

संघर्ष सदैव मानवीय मूल्यों के लिए ही होता है। समाज में व्याप्त विषमतायें जीवन के विपर्यय, उगती हुई देश काल गत आकांक्षायें इन सब की टकराहट आज सब से अधिक तीव्र गति से विद्यमान है। मनुष्य जितना आज अपमानित किया जा रहा उतना शायद ही इतिहास में कभी किया गया हो। ऐसी स्थिति में केवल दो प्रकार की ही मानसिकता विकसित हो सकती है। एक तो यह कि मनुष्य पशु की भाँति केवल इन अन्यायों को सहता चला जाय, और दूसरा यह कि वह अन्यायों के विरुद्ध अपना सिर तान कर खड़ा हो जाय। यदि पहली स्थिति हम स्वीकार कर लें तो हम जीवन और उसकी ऊष्म जिजीवषा दोनों को नकार देंगे, लेकिन यदि हम उन अन्यायों के विरुद्ध प्रश्न चिन्ह लगा कर खड़े हो जाँय तो फिर सिवा संघर्ष के और कोई रास्ता नही बचेगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पहली स्थिति अर्द्धविकसित जीव के मानसिक बाँझपने की है जिसमें आत्महीनता जन्म लेगी और यदि अज्ञेय का उद्देश्य आत्महीनता को महाकरुणा का सम्बोधन देना है, तो इससे बढ़कर नपुंसकता और क्या हो सकती है ? लेकिन यदि उनका उद्देश्य यह नही है तो संघर्ष जिजीवषा का प्रेरक तत्त्व तो है ही साथ वही हमें उस अचिन्त्य ब्रह्माण्ड का सहोदर भी बना देगा जिसमें महाकरुणा निरन्तर अहेतुकी भाव से प्राप्त होती है। संघर्ष ही आध्यात्मिक शब्दावली में तप हैं पार्थिव स्तर पर श्रम है। श्रम सांसारिक व्यवहार में मूल्य है, द्रव्य है।

महाकरुणा जहाँ आध्यात्मिक जगत का शब्द है वहीं वह कविता का केन्द्र विन्दु है। कविता संघर्ष की आर्ष अभिव्यक्ति है। संघर्ष का आर्ष होना हीं मुखर होना है लेकिन जब हम इस आर्षता को कर्म में ढालते होते हैं तो कहीं स्वयम् भू ईश्वर की भाँति उस महाकरुणा का निर्माण करते होते हैं जो शब्द से ऋचा और ऋचा से स्वाहा तक समिधा में व्याप्त है। साहित्य संघर्षमय होता है इसी लिए वह महाकरुणा, करुणा का भी साक्षात्कार करता है। जो वेदना महानिभिष्क्रमण में व्यक्त होती है, जो मानवीय संवेदना महा-निभिष्क्रमण से लेकर सुजाता की प्राप्ति तक संघर्ष रत रहती है, वही उस महा-करुणा की पात्र भी हो सकती है जिसमें अहिर्निषि एक आदिम करुणा वत्सला हो द्रवित होती है। कविता ही वह वत्सला करुणा है जो एक ओर संघर्ष के ताप अनुताप में शब्दों को नया संस्कार देती है, और दूसरी ओर उन नये संस्कारित शक्ति को प्रेरक मत के रूप में इस्तेमाल कर उसे महाकरुणा का साक्षात्कार कराती है जो हमें हर संघषंरत; अपनी परिस्थितियों से लड़ते जूझते, टूटते बनते मनुष्य के रूप में दृष्टिगोचर होता है। लेकिन संवर्ष, परिवेश, टकराहट और अन्याय के विरुद्ध सिर उठाकर चलने का अदम्य साहस ही उस करुणा को पा भी सकता है। कायर, नपुंसक, स्थितियों के सामने घुटने टेक देने वाला और तिल तिल कर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए मूल्यों को गिरवी रखने वाला न तो सघर्ष पहचान सकता है और न महाकरुणा।

जीवन एक निरन्तर संघर्ष रत यात्रा हैं। यह यात्रा उस समय तक शाश्वत रहेगी जब तक कि मनुष्य की आत्मा और उसके भौतिक परिवेश में द्वन्द है। यह द्वन्द शायद सृष्टि की संरचना में ही हैं इसलिए इस संघर्ष का रूप बदल सकता है लेकिन अस्तित्व रहेगा। आज की दुनिया का वास्तविक संक्रमण यह है कि हमारा संघर्ष एक भौतिकता से दूसरी भौतिकता तक ही सीमित है, लेकिन मानव सभ्यता का सब से महान उत्कर्ष वह होगा जब आत्मा के स्तरों का संघर्ष होगा। वह संवर्ष वास्तव में ज्यादा गहरा और मार्मिक होगा। उसका संचालन भी शायद हम आज के व्याप्त मूल्यों से नहीं करेंगे। उनकी मूल्यगत स्थिति भी भिन्न होगी। हो सकता है कि इस युग में हम ही एक दूसरे स्तर पर होने, न होने और होते रहने के संघर्ष में रत हों। वह युग आयेगा लेकिन आज तो हमें अपने जीवन की भौतिक यात्रा को नकार कर चलने का दुसाहस नहीं करना चाहिए। आज के इस क्षण का यथार्थ यही है कि हम अपनी कला की अध्यात्मिकता की रक्षा करते हुए जीवन के उन समस्त अन्यायों के खिलाफ़ अपनी आवाज उठायें जिनके दंश में पूरा देश ही नहीं, समस्त विश्व

मरणासन्न होता जा रहा है । जीवन की जैविकता उसका धर्म है और उस जैविकता की भौतिकता, भौतिकता के बन्धन, ऐसे सत्य है जिनके बीच से ही कविता को गुज़रना होगा । कविता यदि इन संघर्षों के दौर से नहीं गुज़रेगी, अन्याय के प्रति गूंगी बनी रहेगी तो वह निश्चय ही मर जायगी ।

आज कविता इस अर्थ में जिन्दा है कि उसमें वह सब कुछ आ रहा है जो विषम है, कटु है, विसंगत है, अभिशप्त है, लेकिन इनके बावजूद भी संघर्ष को तीव्र करती है और इसको उन संदर्भों से जोड़ती है जिसमें मानव कल्पना कुछ नया रचने के लिए आतुर है । प्रसन्नता की बात यह है कि बावजूद इन सब संघर्षों के कविता आज भी रची जा रही है । कुछ मुर्झाये हुए चेहरे, कुछ लड़खड़ाती हुई जबान, कुछ बदहवासी के फिक़रे कुछ विद्रोह की आँच में धधकते शब्द मुझे आज की कविता से यत्र तत्र सर्वत्र मिलते है । मैं उन शब्दों के माध्यम से उन व्यक्तियों को महसूस करना चाहता हूँ जो वह सब कुछ लिख रहे हैं । कविता कभी बांझ नहीं होती वह हर स्थिति में जिस भाव से प्रेरित है उसे प्रेषित करती है । आज की कविता में वह नंगा और अर्थहीन दर्शन अवश्य नहीं मिलेंगे जिसे आप सुभाषित के रूप में लिख कर अपने कमरे में टाँग सकें लेकिन उनमें वह तथ्य सत्य अवश्य मिलेंगे जिनमें जीवन आपाद शराबोर है । यह स्वास्थवर्धक है ।

जो पुरानी पीढ़ी के कवि थे उनके सामने शायद समस्यायें उस रूप में नहीं थी जिस रूप में आज की युवा पीढ़ी के सामने है । समस्यायें आज उसके सामने वैसीं भी नहीं जैसी हमारी पीढ़ी के साथ रही है । हम स्वप्न-भंग के शिकार थे और आज की नयी काव्य संवेदना के समक्ष कोई स्वप्न कभी रहा ही नहीं । वह एक ध्वंसाविशेष का भयावह आतंक ही देख रही है और उसी के बीच से गुज़र रही है । उसके पास यदि संवेदनाओं की बारीकियाँ नहीं हैं तो उसके लिये वह दोषी नहीं है । यदि उसके पास महाकरुणा की संवेदना नहीं है और वह नैतिक यथार्थवाद को महज वाग जाल मानता है तो ठीक करता है क्योंकि जिस समाज में वह पैदा हुआ है बढ़ा है और विकास पा रहा है उनमें नैतिकता नाम की चीज़ बची ही नहीं है, मर्यादायें भी आज नहीं है फिर ऐसी स्थिति में वह वही लिख रहा है जो वह जी रहा है । वह जो नहीं जी पाता उसके लिए उसके मन में मोह भी नहीं है और जब उससे कहा जाता है कि उसकी संवेदना में, रचना में, अनुभूति में कहीं कोई चीज है जो निरन्तर छूटी जा रही है तो उसके पास उन सबके लिए पछताना भी नहीं है । केवल एक अजनबीपन है शब्दों के

प्रति, भावों के प्रति, सम्बन्धों के प्रति और एक व्यंग्य है जो युक्ति वैचित्र के रूप में नहीं सीधे तराश के रूप में व्यक्त होता है ।

हम भी उन्हीं संवेदनाओं से होकर गुज़र रहे हैं । खास कर मेरे जैसा कवि ठीक उन्हीं विसंगतियों के बीच अपने को पाता है जिसके बीच यह पीढ़ी अपने को पाती है क्योंकि उनसे मैं अपने को चाहे जितना प्रतिष्ठित समझूँ, वस्तु स्थिति के व्यंग्यों और उनकी तराशों की सीधी काट मैं अपने जीवन में अनुभव करता हूँ। अन्तर केवल इतना है कि मेरी अनुभूतियों के बीच से दो प्रकार की दुनिया और गुज़र गई है । एक आज़ादी के पहले की दुनिया और एक आज़ादी के बाद की दुनिया, एक आज़ादी के पहले की भाषा, उसके मुहावरे और बिम्ब, उसके प्रतीक और एक आज की दुनिया के । दोनो की टकराहटों का मैं साक्षी हूँ, जबकि आज़ादी के बाद की जो पीढ़ी आई है उसके पास यह सारा सब कुछ स्मृति और श्रुति के रूप में आई । स्मृतियों और श्रुतियों में केवल अतीत बोलता है । वर्तमान उससे छुटा हुआ रहता है । मेरे साथ यह नहीं है । मेरे साथ आज से आज़ादी के पहले की भाषा, संवेदना, मोहावरा जिन्दा जीता जागता साकार है । यह अलग बात है कि आज उसका बहुत कुछ केवल पुरातत्त्व का विषय रह गया है उसमें जान नहीं है । लेकिन क्या आज की जो संवेदना है वह मेरे साथ उसी प्रकार घटित होती है जैसी कि आज के युवा पीढ़ी के साथ घटित हो रही है । मैं समझता हूँ घटित वह भले ही उसी रूप में हो रही हो लेकिन उसका प्रभाव मेरे ऊपर दूसरे प्रकार का पड़ता है यही कारण है कि कविता भी दूसरे प्रकार की हो जाती है ।

मेरा यह दावा नहीं है कि मेरी संवेदनायें वही है जो आज के नये लेखकों की है क्योंकि मेरी अपनी स्थितियाँ वह नहीं हैं जो आज के नये लेखकों की है फिर भी आज के संदर्भों का प्रभाव मेरी चेतना के बुनावट का एक ऐसा अंग है जिसे मैं नकार नहीं पाता । जीवन के अनेक स्रोतों में से एक स्रोत वह भी है जहाँ जीवन का सारा अमर्ष भय में न बदल कर संघर्ष में बदलता है । प्रश्न है कविता में हम अपनी पहचान किसके साथ करते हैं : आज की विषम परिस्थितियों में उदासीन रहने वालों से या अपने कल्पना लोक में ही डूबे रहने वालों से या उनसे जो प्रत्येक चुनौती को खुले मैदान में स्वीकार करते हैं । मैं यह तो नहीं कहता कि मुझमें वह खुलापन है जहाँ शब्द ही हथियार बन रहे हो, फिर भी मैं शब्दों को मन और मंत्रों की गतिशील चेतना को प्रेरणा देने वाला साधन तो मानता हूँ । इसीलिए संघर्ष की भाषा से मैं मुक्त नहीं हो पाता और न उस पार्थिवता से मुक्त हो पाता हूँ जिसमें जीवन के सारे संघर्ष वस्तुओ से जुड़-

कर अभिव्यक्ति पाते हैं। यह जुड़ना निर्थक नहीं है लेकिन दायित्व दोहरा हो जाता है यानी पार्थविता से जुड़ कर भी कविता की नैसर्गिकता को अक्षुण्ण बनाये रखना। इस दोहरे दायित्व में कभी कविता छूट जाती है तो कभी पार्थित्रता और कभी सब कुछ सजो लेने के बाद वह नैसर्गिकता छूट जाती है जो शब्दों को कविता की तरतीब में बाँधती है। जीवन जहाँ अनेक जटिलताओं से घिरा है वहीं कला के क्षेत्र में भी उन्हीं जटिलताओं से जूझता है। कोई भी शब्द कब कविता का शब्द होकर बोलेगा शायद इसे स्वयंमु कवि भी नहीं जानता, लेकिन प्रयास चलता रहता है। मैं उनमें से भी नहीं है कि जो सत्य को छोड़कर प्रतिबद्धता कहीं और रखता है, उनमें से भी नहीं कि जो सत्य के नाम पर केवल एक पलायनवादी घटाटोपी जीवन दर्शन ही ओढ़ लेते हैं, मैं उन में से भी नहीं हूँ जो कविता में पार्थिवता को उस सीमा तक ले जाते हैं जहाँ उसकी आध्यायिकता नष्ट हो जाती है। वस्तुत: मैं कविता को उन समस्त तत्त्रों के साथ और उससे भी आगे की चीज़ मानता हूँ। कविता के माध्यम से हम एक साथ वह सब जीते हैं जो जीवन को विषम और कटु बनाते हुए भी एक ऐसा आधार देते हैं कि जो हमें साहस और सहारा के साथ-साथ वह जिजीविषा भी दे सके जिसमें सब कुछ होने के बावजूद सारी दुर्घटनाओं में चूर-चूर होने के बावजूद फिर से चलने की क्षमता शेष रहती है।

कंचनमृग की कवितायें एक विस्तृत परिधि में बिखरी हुई अनुभूतियों का संचयन है। जिस प्रकार संघर्षरत मेरा जीवन है उसमें इतनी भी निश्चिन्तता मिलना कठिन है कि मैं इन सारी कविताओं को उस रंगसाज़ी तरतीब से आपके सामने रखता कि जो ज्यादा रुचिकर लगतीं। जैसा मैंने कहा यह सारी कवितायें यत्र तत्र मेरे चारों ओर बिखरे अस्त-व्यस्त कागज़ के टुकड़े, अखबार के पन्ने और कहीं-कहीं तो परचून के दूकान की चिन्दियों से उतारी गई है। युग ऐसा है कि गद्य अधिक चलता है। जीने के लिए और 'फ़ादर चिम्पैंझो' की तरह किसी खोह में अपने परिवार को सुरक्षित और जीवित रखने के लिए, मुझे अनेक यत्न करने पड़ते हैं। उसमें कविता आती है चली जाती है। जब तब लिखने का अवसर मिलता है तो लिख भी जाती है लेकिन वैसी नहीं जिसमें रंगीचुनी मिले इसलिए आपसे एक ही अनुरोध है कि पढ़ने और उनको तरतीब देने का काम आप स्वयं करे। मुझे विश्वास है आप मेरे लिए इतना कष्ट गँवारा करेंगे।

एक शब्द मुझे अपने प्रकाशकों के विषय में कहना है। यदि इनका सहयोग न होता तो यह संग्रह भी आपके सामने न आ पाता। धीरे-धीरे जाने क्यों

एक उदासीनता प्रकाशन के प्रति मन में उभरती जा रही है । इस मन:स्थिति को दो चीजें ही प्रच्छालित करती हैं, एक आर्थिक आवश्यकता और दूसरे प्रकाशक की माँग । लोकभारती से मैं वर्षों से प्रतिबद्ध था । इसको छापने में इनको कष्ट भी हुआ है क्योंकि पूरी पुस्तक छपकर तैयार थी और चार महीने से मैं इसकी भूमिका नहीं लिख पा रहा था । प्राय: लम्बी भूमिकायें काव्य संकलनों में नहीं होनी चाहिए । कंचनमृग के लिए मैं एक भूमिका आवश्यक समझता था । जीवन के अनेक विखरावों के कारण मैं लिख नहीं पाता था। आज लिख गया । इसका श्रेय लोकभारती के संस्थापको की है जिन्होंने मेरी लापरवाहियों और झंझठो के बावजूद यह संकलन भूमिका सहित उपलब्ध कर लिया अन्यथा यह भी न हो पाता ।

अन्त में यह संग्रह आपके हाथ में है । मैं नहीं जानता आपको कैसा लगेगा । मन में अनेक भावनायें हैं । चारों ओर के दुस्वप्नों और कुचक्रों से मन भारी है । सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक किसी भी धरातल ५र मन को शान्ति नहीं मिलती । यदि यह कवितायें आपको भी अशान्त बनाये तो अन्त में केवल गुरुदेव की यह प्रार्थना ही पढ़ लें । इससे मुझे शान्ति मिलती है । आपको भी मिल सकती है ।

भगवान, तुमि युगे-युगे दूत, पाठाये छो बारे बारे
दयाहीन संसारे

तारा बले गेलो 'क्षमा करो सबे, बले गेलो 'भालो वासो—
अन्तर हते विद्वेष विष नाशो' !

वरणीय तारा, स्मरणीय तारा, तबुओं बाहिर द्वारे
आज दोर हते फिरानु तादेर व्यर्थ नमस्कारे ।।
आमि ये देखेछि गोपन हिंसा कपट रात्रि छाये
हेनेछे नि:सहाये,

आमि जे देखेछि प्रतिकारहीन, शक्तेर अपराधे
विचारेर वाणी, नीरबे निभृते काँदे

आमि जे देखिनु तरुण बालक उन्माद हये छुटे
की यत्रणांय भरे से पाथरे निष्फल माथा कुटे ।
कंठ आभार रुद्ध आजि के, बाशि संगीत हारा
अमवस्यार कारा

लुप्त करीछे आमार भुवन दुःस्वप्नेर तले,
ताई तो तोमारे शुधाई अश्रु जले

जाहारा तोमार विषाईछे वायु, निभाइ छे तब आलो
तुमि कि तादेर क्षमा करियाछो, तुमि कि बेसेछो भालो ?

(रवीन्द्रनाथ टैगोर)

सरयू कुटीर
मधवापुर, इलाहाबाद
सोमवती अमावस्या

—लक्ष्मीकान्त वर्मा

अनुक्रम

कंचनमृग

तुम्हारी बात पर मैं ने विश्वास किया,
तुम ने कहा यह कंचनमृग है
और मैं ने निर्विवाद मान लिया।

तुम ने कहा कंचनमृग नहीं
उसकी छाल तुम्हें प्रिय है—
मैं उसके पीछे दौड़ गया।

तुम ने कहा तपस्या में कंचन बाधक नहीं होता
मैं ने स्वीकार किया
और नितान्त उदासीन तापस वेश में
उस कंचनमृग के पीछे दौड़ गया।

तपस्या की धरोहर मैंने तुम्हारे पास रख दी
धनुष - बाण से आयुधयुक्त
वीर - व्रती सा नंगे पाँव
घोर धूप - आतप में,
मैं एक अन्तहीन यात्रा की ओर
दौड़ता गया....दौड़ता गया,
और हर क्षितिज का अन्त
एक नये की भूमिका बन
पर्त दर पर्त उघरता गया।

किन्तु—
मैं तुम से यह पूछना भूल गया

कि जब तपस्वी कंचन की कामना करता है
तो तपस्वी का जो होता है सो तो है ही,
कंचन का क्या होता है ?

मैं यह भी पूछना भूल गया
कि जब अपने भीतर की वासना ही
कंचनमृग बन जाय
तब तप का क्या होता है ?

मैं इस बीहड़ वन में नंगे पाँव
अपनी तपस्या से विमुख
तुम्हारी कामना के पीछे
दौड़ता - दौड़ता वहाँ आ पहुँचा हूँ
जहाँ वह कंचनमृग कभी दिखता है
और कभी ओझल हो जाता है;

कभी एकदम समीप आ जाता है
और कभी बहुत दूर चला जाता है;

जब वह नजदीक होता है
तो मेरा तापसी मन उसका वध करने को
उद्यत नहीं होता,
किन्तु जब वह दूर चला जाता है
तब वह मृग - सा नहीं लगता
मुझे वह केवल एक कंचन की छाल-सा लगता है

जो मेरी नहीं
तुम्हारी कामना है।

काश ! तुम मेरे आस-पास होतीं
तो मैं तुम से पूछता
यह कैसा मृगजल है जिसमें

तुम्हारी कामना का अन्त हत्या में होता है
और मेरी तपस्या उसका विरोध नहीं कर पाती ?

काश ! तुम भी मेरे साथ दौड़ती होतीं
तो मैं पूछता कि यह कैसी स्पर्धा है
जो पाँवों में तो गति बन कर फूटती है
लेकिन अन्तर में बेबस विषाद भर जाती है,
शायद तुम्हारी थकी हुई आँखों में
और शिथिल हुए टूटते जिस्म में
मुझे इसका उत्तर मिलता ।

मैं आज भी उसी के पीछे दौड़ता जा रहा हूँ
और आज भी मेरी आत्मश्लाघा भटकन में भटक रही है
आज भी वह मृग लताओं के झुरमुटों से झाँक रहा है,
आज भी मैं धनुष पर तीर चढ़ाये वैसा ही खड़ा हूँ,
पीठ में आँखें नहीं तो क्या हुआ,
मैं देख रहा हूँ तुम आज भी कुटी के द्वार पर
अपने संकेतों से लक्ष्य - बोध कराती
मेरी तपस्या को चुनौती दे रही हो,
लेकिन कहीं कुछ नहीं बदल रहा है,
यह स्थिर दृश्य हवा में टँगा हुआ है ।

यह क्यों होता है कि जब मैं
उसे मारने को उद्यत होता हूँ तो वह—
मृग नहीं राक्षस में बदल जाता है ?
और मैं अपने हाथ वहीं रोक लेता हूँ
क्योंकि तुम ने तो कंचनमृग की खाल माँगी थी
राक्षस की नहीं ।

ओर जब मैं शंकालु होकर थिर होता हूँ
तो वही राक्षस फिर कंचनमृग में बदल जाता है,
तुम्हारे संकेत तीव्र हो जाते हैं,

मेरे पैरों में स्पन्दन होने लगता है
और मृग भी आगे भागता दीखने लगता है ।

मैं नहीं समझ पाया
आज तक नहीं समझ पाया
कि वह कंचनमृग
जो तुम्हारा अभीप्सित था
और जो मेरा भी प्रेय बन गया
वह सहसा राक्षस कैसे बन जाता है ?

दोष तुम्हारी कामना का था ?
या मेरी अपनी तपस्या में था ?
कहीं कंचन को राक्षस बनाने का दोष
मेरे बाण में ही तो नहीं था ?

मेरे बाण तो तीर्थ थे
जिसे छूकर राक्षस भी
देवात्मा बन जाते थे—

फिर यह क्या हुआ ?
इन अमोघ बाणों के उठते ही

वह कंचनमृग राक्षस क्यों लगने लगता है
दोष तुम्हारी कामना में है
या मेरे अमोघ बाणों में,
या कंचनमृग के प्राणों में ?

जिसे मैंने कंचनमृग समझ कर मारा
वह तो राक्षस हो गया,
अब क्या होगा ?
क्या सारे राक्षस जिनको मैं
अब मारूँगा

कंचनमृग ही तो नहीं बन जायँगे ?
आज भी यह एक प्रश्नचिह्न बना ही है,
मैं कंचनमृग के पीछे दौड़ा था,
या सीता की कामना के
और कामना चूँकि पंगु होती है
इसलिए कलंक तो मुझे ही मिलेगा।

कंचनमृग—२

तुम ने कामना की,
दण्डकारण्य में आग लग गई,
देखा तुम ने,
राक्षस ही यती हो गया
और यती एक लोभी कुत्ता।

वह जो कंचनमृग था
हमारे तुम्हारे बीच,
वह हमेशा हम दोनों को छोड़
किसी तीसरे को पुकारेगा,
और वह तीसरा मेरा ही बन्धु होगा
तुम्हारा नहीं।

तुम्हीं ने पाले थे मृगशावक
तुम्हीं उनमें कंचन देखने लगीं
शायद तभी वह शावक
राक्षस बनने पर विवश हुआ।

शब्दवेधी स्वर
हमेशा रेखायें पैदा करते हैं,
पर्णकुटी में सीता के चारों ओर
और मन्त्रविद्ध अपने अस्तित्व के चारों ओर।

छल से छल ही पनपता है
कंचनमृग का क्या
वह तो राम के साथ
रामायण हो गया।

राम तो खाली हाथ लौटेंगे ही
सीता तो अग्नि में है,
और जो नहीं है वह कुटी में भी
नहीं होगी ।

ज्योति

कहा किसी ने
ज्योति बरसेगी।
तृषा फिर भी तरसेगी
क्योंकि ज्योति प्रकाश है
जल नहीं।

ज्योति तो बरसेगी
पर प्यास नहीं शान्त कर सकती
जल तो बरसेगा
पर प्रकाश नहीं उत्पन्न कर सकता
भाव तो आयेंगे
लेकिन अभाव में छन जायेंगे
छन्द तो अवतरित होंगे,
किन्तु पहले क्रौंच को मरना होगा।

लय

लय के लिए चाहिए
महाशून्य
जहाँ से लौट कर वह बने शब्दवान।

अन्धकार

तुमको क्या हो जाता है
जब भी जन्म लेते हो
लीलामय हो जाते हो
एक जन्म ऐसा भी लो
जिसमें जियो, तो सांस सांस जियो
चलो तो कदम कदम चलो
ठहरो तो ठहर जाय समय, काल दिक,
एक बार ऐसे भी जियो

घूँट घूँट मेरी तरह खून पियो
बूँद बूँद रक्त का दान दो
क्षण प्रतिक्षण अग्नि परीक्षा
लव निमेष में प्रलय सृष्टि
कहीं और नहीं
अपने ही अस्थि सेतु पर
धधकते प्रारब्ध सा
मरो भी तो कालजयी
अनाम
अज्ञात
अविराम !

प्रकाश-संधि

वह जो क्षितिज की सन्धि रेखा पर
उढ़कता लुढ़कता दीखता है
वह वही सेतु होता है
जिस पर से मंथर गति अन्धकार
अदृश्य में जाता है
और प्रकाश अवतरित होता है
संधि ही सेतु है
या सेतु ही संधि
दोनों ही एक है
या दोनों दो ।

तुम्हीं बताओ
तुम्हें मैं संधि रेखा कहूँ
या सेतु
तुम्हें मैं विसर्जन की पंक्ति कहूँ
या आलोक की जिजीविषा ।

गायत्री

गायत्री को मैं ने देखा है
श्वेतवस्त्रा सुजला सुफला
तुम जिस गोमुख की यात्रा में
लीन हो,
वहीं कहीं वह मौन खड़ी
तुम्हारे कानों में
कुछ कह जाती है
तुम केवल अनुभव करते हो
कह नहीं पाते ।

●

कटघरे में

मैं खुद अपने को कटघरे में खड़ा करता हूँ
और आवाज़ देता हूँ
आओ, मुझ पर जुर्म लगाओ
मुझे सलीब पर टाँगो
यातना शिविर में जितनी यातनायें देनी हों, दो
क्योंकि जिस अपराधी की तलाश तुम्हें है
वह वह नहीं है
जो चोरी करता है, डाका मारता है,
बलात्कार करता है, हिंसा करता है
अपराधी मैं हूँ
क्योंकि मैं ने शब्दों के बीच के संयम को तोड़ा है
अर्थों को अनर्थों में बदला है,
जो कुछ झिलमिला कुहासे में था
उसका शीलभङ्ग किया है।

जानते हो, उस चौराहे पर
लहू-लुहान जो लाश पड़ी है
बलात्कार से घायल जो दग्ध शरीर है
वह व्यक्ति नहीं संस्कृति है।

एक यात्रा

मैं वापस नहीं आया हूँ
मैं जिस नयी यात्रा में हूँ
वहाँ मैं स्वयम् अपने को पा रहा हूँ
तुम समझते हो मैं खो गया हूँ
लेकिन इस यात्रा में मुझ से जो छूट गया था
मैं उसे वापस बुला रहा हूँ।

अपने को पा लेने के बाद
वापसी या आगे बढ़ने का अर्थ समाप्त हो जाता है
इसलिए
जो छूट रहा है उसे भी मैं ग्रहण कर रहा हूँ।

●

केंचुल

डरो नहीं,
कल के जो ये ज्वलन्त प्रश्न थे
वे केंचुल छोड़ गये हैं,
प्रश्न तो आगे बढ़ते जाते हैं,
तुम्हें केवल केचुलों की उपलब्धि होगी
क्योंकि तुम हमेशा बाद में आकर
हरावल का स्वांग रचने में सिद्धहस्त हो ।

●

बड़ा कठिन होता है

बड़ा कठिन होता है
क्षण प्रतिक्षण किसी निराधार को
अपनी संतान-सा सेना
और अपनी ही आँच से
उसमें पैदा करना धड़कन
उगते देखना पैर
निकलते देखना पंख
झिलमिलाते देखना रोशनी
उन बन्द आँखों की पुतलियों में
जिनमें निशब्द आकाश वर्तमान होता है
और इन सबके बाद
उन निश्शब्द ध्वनियों को शब्द बनाना
उन शब्दों में अर्थ पिरोना
बिना भाष्य किए
उनके तुतलाते स्वरों के
अर्थ-संदर्भों से जुड़ना !

वे फिर भी धन्य हैं
जो किसी आधार को अंकुर समझ
यह सब पैदा कर लेते हैं
यानी जो मात्र एक छिलके में
उगा लेते हैं सब
चलने वाले पैर
उड़ने वाले पंख
गूँजने वाले शब्द

और शब्दों की सेना में
फड़कने वाले भाव, तिरोभाव, अभाव
भंगिमाओं में भागवत, गीता, कुरान
अर्थों में क्रियावान
एक गतिशील जीवन
उठता, उभरता, चलता, फिरता
अपने ही से जूझता
गतिमान !

उद्वेलित सागर की लहरों पर
बूँद-सी बुदबुदाती ऋचाएँ
उदधि के अन्तर में बड़वानल
जलते क्षार-क्षार सद्यःस्नात वेग
जो बार-बार तट से टकराकर
क्षत-विक्षत हो वापस हो जाते हैं
और छोड़ जाते हैं
एक हाहाकार
दहाड़ते सागर का विदग्ध अन्तःसाक्ष्य
और साक्ष्य की अनावृति
पुनरावृत्ति एकाकार
उनकी गूँज-अनगूँज के बीच
निरन्तर स्वर लहरियों पर
तैरता उज्ज्वल नीलमणि-सा प्रदीप्त
लौ-सा अंकुरित
काँपता थरथराता दीप्तिमान !

वही मेरा शिशु है
बड़ा कठिन है उसे सँजोना
बड़ा कठिन है उस शैवाल-सुत का
पिता होना
क्योंकि वह अजन्मा ही जन्मता है
जनम कर भी अजन्मा-सा लगता है

कितने विवश होते हैं हम
जो क्षण-प्रतिक्षण इस प्रतीक्षा में
सारा जीवन बिता देते हैं
कि शायद उन उज्ज्वल नीलमणियों में
उन प्रदीप्त-लौ दीपों में
उन शैवाल-सुतों में
पैर उग आयें, पंख निकल आयें
आँखें झिलमिला आयँ
रोशनी रंग जाय !

बड़ा कठिन होता है
अपने ही मानस पुत्रों के लड़खड़ाते स्वरूप में
देखना कि पैर उग रहे हैं,
बड़ा कठिन होता है
यह पाना कि उनकी आँखों की पुतलियों में
एक सूरज, एक चाँद, एक ध्रुव उग आये हैं ।

कब तक सप्त-ऋषियों सा
केवल परिक्रमा रत रहूँ
तुम्हारा ध्रुव होना रोशनी दे सकता है
लेकिन रोशनी तो नहीं, गति ही जीवन है
इसलिए चलो, उड़ो
हो सके तो विस्तृत आकाश में
अपने राई रत्ती पर तोलो
किसी आकाश-लिपि से उभरो
गिरो, मिटो, मिटकर बढ़ो, बढ़कर गिरो
क्योंकि आकाश से पृथ्वी तक
और पृथ्वी से आकाश तक
यही तो आवागमन है
पुनर्जन्म के पहले तुम यहीं थे
पुनर्जन्म के बाद भी यहीं रहोगे
क्योंकि तुम मेरे मानसपुत्र जो हो

पार्थिवता के बिना जी नहीं सकते
इसीलिए मेरे पास आओ
शायद मेरी आँच से—
तुम्हारे पैर उग आयें
पंख निकल आयें।
आँखों की पुतलियों में
रोशनी तैर जाय!

उस पीड़ा को किसने भोगा है
जिसमें अपने ही शरीर का एक अंग
अपने से ही टूटकर अलग हो
अपनी ही आँच में सीझा-चुरा-पका
एक अपना ही तत्त्व
अपने ही सामने खड़ा हो
स्वयं अपने ही व्यक्तित्व पर
प्रश्नचिह्न अंकित करे
और हम विवश हों उनका संवरण करने को।
प्रश्न जिनके उत्तर स्वयम् प्रश्नों को जन्म दें
उस रक्तबीज को क्या कहें
जो स्वयम् अपने ही रक्त से बनें
और फिर अपने ही पितृज को घेरें
और स्वयं उनसे घिरे हुए हम
एक भीष्म पितामह से उन्हीं से जूझें
उस पीड़ा को किसने भोगा है
कौन जानेगा उस वेदना को····

मैंने यज्ञ किया था,
मानस के तटों पर रखे थे
असंख्य सीप शंख
रेत में उगाये थे मुक्ता कण
प्रत्येक सीपी सम्पुट में
मुक्ता-पंक्ति उगते देखना

बाट जोहना जब उनकी सन्धि से
आलोक फूटे, एक किरण
ऋचा-सी निकले
और पुण्यश्लोक-सी
अन्तरिक्ष में गूँजे।
बने एक प्रार्थना,
एक मुद्रा, भंगिमा
एक उद्गीथ,
एक सरस स्वर
धुल जाय काया का
कलेवर जर्जर

उस प्रतीक्षा को किसने भोगा है
किसने सही यह अमूर्त यातना
कौन जानेगा यह वेदना
और उस वेदना का ताप-अनुताप

तुम तो समझते हो
कि यह विचार जो सहसा तुम तक पहुँच जाते हैं,
उथल-पुथल मचा देते हैं सारी व्यवस्था में
सारी की सारी आन्तरिक संरचना के अपव्यय को
फिर से सँजोने की व्याकुलता भर देते हैं
यह यों ही आ जाते हैं, हो जाते हैं
तुम क्या जानो क्या यातना होती है
अपने ही आत्मज को प्रतिद्वन्द्वी के रूप में पालना
और हमेशा यह पाना कि जो मेरा आत्मज था
वह मुझसे भी बड़ा है।

यह बिम्बों की कतार दर कतार
यह स्केच से शब्दों के तार-तार
यह ध्वनियों की संगति-विसंगति
यह मुद्राओं का सहज बन्धन

कितनी प्रतीक्षा करनी पड़ती है,
हर पड़ाव पर एक टिमटिमाती रोशनी के सहारे
कितने दलदल, मरुथल, दिशाहीन रौरवों से गुजरना पड़ता है
इसे तुम क्या जानो···

अखरोट के छिलके से टूटते पर्त दर पर्त,
काँच की कनी से किरकिराते
फाँस से हर आवेश में करकते
बेवाईयों फँसे रेत के कण से दरकते
एक विचार-यात्रा की यह मंजिलें ही
उत्पन्न करती है करुणा, ममता, दया, उत्सर्ग
और यात्रा के बाद एक नयी यात्रा

मैं जब चलता हूँ
तो मेरे आस-पास, अगल-बगल, ऊपर नीचे
चारों ओर व्याकुल से पंखहीन, चंचल, ओजपूर्ण
शब्द ढलने लगते हैं
और उनकी खोल से झाँकते हैं अर्थ के अर्थ
और उन अर्थों की जर्दी में झाँकता मेरा ही स्वरूप

बड़ा कठिन होता है
बिना आत्मरति के उनको अपने से अलग पनपने देना
बड़ा कठिन होता है
क्षण-प्रतिक्षण किसी निराधार को
अपनी संतान-सा सेना
और अपनी ही आँच से
उसमें पैदा करना धड़कन
उगते देखना पैर
निकलते देखना पंख
झिलमिलाते देखना रोशनी
उन बन्द आँखों की पुतलियों में
जिनमें निशब्द आकाश वर्तमान होता है

और इन सबके बाद
उन निशब्द ध्वनियों को शब्द बनाना
उन शब्दों में अर्थ पिरोना
बिना भाष्य किये
उनके तुतलाते स्वरों के
अर्थ-संदर्भों से जुड़ना
बड़ा कठिन होता है ।

अमूर्त का संकल्प

वह जो रेतीली किरकिरी धूल थी
उसे तुमने किससे सींचा
जो मृत्तिका पिण्ड से पूर्णकुम्भ बन गया
अमृत तो आँखों में था
मधु था वाणी में
लास्य था तन में
विलास था मन में
फिर यह सब मिलकर कविता से भी अधिक
तुम बनीं जो न मृत्तिका हो, न वाणी
न आभा, न शरीर, न आत्मा
मात्र एक बोध पूर्णत्व का
मृग जो है मेरे मन में
उसकी मृगतृष्णा
कृष्णा !

एक शबीह तस्वीर

उसने अपने दाएँ हाथ को मुट्ठी बाँध कर
बड़ी मेहनत से आकाश की ओर उठाया
बायें हाथ को कन्धे के समानान्तर फैलाया
तर्जनी से दूऽऽर संकेत करते हुए कहा :

मैं तुम्हें रोशनी के दरवाज़े तक लाया हूँ
विश्वास दिलाता हूँ
इस दरवाज़े के उस पार
रोशनी का प्रशान्त महासागर है
अहर्निश उसमें सैकड़ों करोड़ों इन्द्रधनुष
वर्तुलाकार लहर के समान उभरते
और तिरोहित होते रहते हैं
अनेक सूर्य गेंद की तरह लहरों पर
फेन-बने बनते बिखरते रहते हैं
असंख्य चाँद चक्रवात से
अर्द्ध चन्द्रकार उठते और गिरते रहते हैं ।

और यह सब कहते-कहते
उसका चेहरा तम्बूरे-सा लटकता जा रहा था
आँखें खिंची जा रही थी
भौंहें तनी जा रही थीं
होठ समानान्तर फैले जाते थे
लेकिन उनका फैलाव त्रिकोणात्मक होता जा रहा था
सिर के बाल खड़े होते जाते थे
वह एक बैताल-सा लम्बा होता जा रहा था ।

उसकी आवाज़ धीमी पड़ गई थी
लेकिन वह बुदबुदा रहा था—
मैं देख रहा हूँ
इस बन्द दरवाज़े के उस पार
यह सब है
अजस्र ज्योति निर्झर
और उसमें आकाश दीप से
अनेकानेक लोक, ब्रह्माण्ड,
माहताबी नीलिमा में डूबा अखण्ड, विराट।

पर मैं क्या करूँ
मैं इसके आगे नहीं जा सकता
क्योंकि इस दरवाज़ के आगे
मेरे लिए वर्जित है।

कंकालों की भीड़
मौन सिर नीचे किये
उसकी बात सुनती रही
उसमें से कोई भी नहीं कुनमुनाया
क्योंकि उनके लिए यह नयी बात नहीं थी।

इसके पहले भी
जो भी भविष्यवाणी लेकर आया था
वह इन सबके पूर्वजों को यहाँ तक लाया था
और उसने भी यही कहा था
इस बन्द दरवाज़े के उस पार
वह सब है जिसे सिर्फ़ वह देख रहा है।

तब भी कंकालों के लश्कर ने
उन पर भरोसा किया था
और प्रतीक्षा रत रहते-रहते
सब के सब अपनी-अपनी जगह

रूख, झाड़, झंखाड़ हो गये
टीले, ऊबड़-खाबड़ ऊसर, बंजर
पर्वत पहाड़ हो गये

लेकिन दरवाज़ा बन्द का बन्द ही रहा
जो पगडण्डी उन्होंने दरवाज़े तक
पहुँचने के लिए बनाई थी
वह अजगर बन कर
जाने कहाँ सरक गई थी।

आज इन कंकालों के सामने
जो चीख़-चीख़ कर चिल्ला रहा है
यह वह नहीं है जो आज खुद
दरवाज़े पर ताला बन कर झूल रहा है
यह एक पुनरावृत्ति है अपने अतीत की
इसीलिए जब यह इन कंकालों के सामने
बैताल-सा बोल रहा है
तो आसपास के सारे रूख, झाड़, झंखाड़
टीले, ऊबड़-खाबड़ ऊसर, बंजर
पर्वत, पहाड़
दरवाज़े से लटकते ताले
सब काँप रहे हैं
क्योंकि वह जानते हैं :
इन कंकालों को फिर वही सब होना है
आज जो वह हैं
और एक बार फिर इस पगडण्डी को
अजगर बन सरक जाना है
और उसको भी
ताला बन लटक जाना है।

सब देख रहे हैं
इन आवाज़ों की गूँज में

वह भिचा-भिचा सा जड़ होता जा रहा है
इसीलिए वह ज्यादा मेहनत के साथ
अपनी बातों में विश्वास पैदा करने के लिए
चतुष्कोण से त्रिकोण और त्रिकोण से कोण
कोण से वृत्त और वृत्त से नितान्त शून्य बनता जा रहा है।
उसे अपने कायिक विरामों से
अधिक और अधिक जूझना पड़ रहा है।

तब यह कंकालों का लश्कर उत्साहित था
उसकी आँखों में चमक थी
और दिल की धड़कनों में गर्मी थी
मन में वलवले थे
पलकों में सपने थे
हाथों में शक्ति न होते हुए भी
हरकत थी

लेकिन आज का यह लश्कर उदासीन है
वह केवल सुन रहा है
गुनना उसने छोड़ दिया है।

यह लौह कपाट
उसके लिए सत्य है
क्योंकि वह दृढ़ विश्वास-सा
अनन्त सम्भावनाएँ लिए बन्द है

और वह आज भी कह रहा है
मैं तुम्हें रोशनी के दरवाजे तक लाया हूँ
विश्वास दिलाता हूँ
उस पार रोशनी का प्रशान्त महासागर है
उस पार·······

अब वह चुप हो गया है
शायद बेबस होकर
थक गया है ।

शायद उसकी संरचना में ही
परिवर्तन हो रहा है ।
उसके तन्तुजाल की बुनावट में
कुछ और नया पनप रहा है ।

कुछ थिर होकर
उसने फिर अपने लम्बोतरे मुख को
त्रिकोण में बदला
फिर अपने हाथ उठाये
और हकलाते हुए कहा—

आओ,
इस बन्द दरवाज़े पर दस्तक दो
अपने हाथों से इस वज्रोपम लौहकपाट को पीटो
पीटो और पीटो
ताकि उस रोशनी के प्रशान्त सागर में
ज्वार-भाटे उठें
और इस दरवाज़े को तोड़ दें ।

भीड़ ने सुना
फिर उसने अपने अस्थिपंजर से
टटोल कर अपना हाथ निकाला
और अब उसकी दस्तकों से
वातावरण गूँज रहा था
तो सहसा सबको अनुभव हुआ
वे दरवाज़ा नहीं
अपने हाथों से अपने-अपने सिर पीट रहे थे

दरवाज़ा असंख्य घोड़ों की नालों से जड़ा
फ़ौलाद-सा गम्भीर
जहाँ था, वहीं साबुत खड़ा रहा।

कंकालों के सिर लहू लुहान थे
लकड़ी की खपच्चियों की तरह
हज़ारों हाथ टूटकर
ज़मीन पर पड़े थे
और उनको विश्वास नहीं हो रहा था
कि उनके जिस्म में भी इतना लहू था
और उनके पास भी हाथ थे
जो टूट कर अलग हो सकते थे।

और जब उन्होंने अपना लहू लुहान सिर
ऊपर उठाया
तो देखा :
वह जो अभी तक ज़िन्दा पोस्टर था
नारे लगा रहा था
वह दरवाज़े से चिपककर
खुद ही एक ताला बनता जा रहा है
दरवाजे के आबनूसी चौखटे
और ज्यादा काले दिख रहे हैं
घोड़े की नालें कुछ ज्यादा चमक रही हैं
और वह
जो इन्हें इस दरवाजे तक लाया था
वह वर्तुलाकार हो
उसी दरवाजे से चिपकता जा रहा है

सभी अवाक् से खड़े हैं
वह उस दिवगंत होने की
बेचैनी, तड़पन, समझ नहीं पा रहे हैं
उनकी प्रज्ञा यह कल्पना ही नहीं कर पा रही है

कि आदमी इन आबनूसी दरवाज़ों और चौखटों से
चिपक कर कैसे पानी की तरह उस पर रिस सकता है
जहाँ,

रोशनी का प्रशान्त महासागर है
और जिसमें
अहर्निश सैकड़ों करोड़ों इन्द्रधनुष
लहर के समान उभरते और तिरोहित हो रहे हैं
अनेकों सूर्य गेंद की तरह लहरों पर
फेन बने बिखर रहे हैं
असंख्य चाँद चक्रवात से
उसके वक्षस्थल पर उठ गिर रहे है !

उन्होंने फिर सिर उठाया
देखा वह जो दरवाज़े से चिपका था
न हिला, न पसीजा, न गला
वह समूचा ग़ायब हो गया है
और लौह कपाट पर
जहाँ उसकी परछाईं थी
अब एक और बड़ा ताला लटक रहा है।

तब से आज तक
वह लश्कर
वहीं और वैसी ही खड़ी है
उसका दुर्भाग्य यह है कि
वह अब अपनी-अपनी जगह पर
रूख झाड़-झंखाड़ भी नहीं हो रहे हैं
टीले ऊबड़-खाबड़ ऊसर-बंजर
पर्वत पहाड़ भी नहीं हो पा रहे हैं
और दरवाज़ा
और घना होकर फ़ौलाद होता जा रहा है।

●

अजस्र ज्योति वर्षा

अजस्र ज्योति वर्षा कैसी होती होगी भला
मैंने तो केवल अन्धकार ही आते देखा है
ज्योति को थिर ही पाया है
कैसा लगता होगा :

जब ज्योति चलती होगी
प्रकाश ढहते होंगे
अवकाश गलते होंगे
प्रवाह बहता होगा
अथाह थहता होगा

मैंने तो एक बूँद में ही सब देख लिया
फिर सागर कैसा होगा ?

आज भी नदी वही है

आज भी नदी वही है
वैसा ही नदी के उस पार
एक बूढ़ा शेर
इस पार एक ग़रीब परदेसी
शेर के हाथों में वैसे ही
दो सोने के कड़े हैं
और उसकी माँद में
अनगिनत लाशें

जो भी नदी के इस पार रहा
उसने केवल सोने के कड़े देखे
वह देख नहीं पाया माँदों के भीतर के अस्थिपंजर
ग़रीब परदेसी जो सदा से नदी के इस पार रहा है
ग़रीब ही रहता आया है
उसकी नियति है : शेर की परमहंसी मुद्रा पर विश्वास कर
उसके पास जाये,
और अपने अस्थिपंजर को
उसकी माँद में डाल कर
अपनी ग़रीबी दूर करे
उस सोने के कड़े को माध्यम मान कर
अपनी मुक्ति कामना पूरी करे !

नदी आज भी है वही हज़ारों वर्ष पुरानी
कड़े भी वही हैं हज़ारों वर्ष पुराने
लेकिन यह शेर वह नहीं है

कहते हैं आज इस बूढ़े शेर के पास जो कड़े हैं
वे उसे अपने पिता से विरासत में मिले हैं
और उसके पिता को उसके अपने पिता से और—
उसके पिता के पिता को उसके पिता के पिता के पिता से
वैसे ही हज़ारों वर्षों से लगातार
यह ग़रीबी
उस ग़रीब परदेसी को अपने पिता से
उसके पिता के पिता को उसके अपने पिता से और—
उसके पिता के पिता को उसके पिता के पिता के पिता से
वैसे ही हज़ारों वर्षों से लगातार

लेकिन नदी वही है
वही जल है : वही मँझधार।

हितोपदेश : १

तुम मुझे बीच धार में ले आये

तुम मुझे बीच धार में ले आये
और मैं भी कितना बड़ा मूर्ख हूँ जो तुम्हारी पीठ पर बैठा हूँ
और यह सुन रहा हूँ कि तुम अभी मुझे अपने घर ले जाकर
मेरा कलेजा अपनी पत्नी को खिला दोगे
तुम सोचते होगे मैं बड़ा कायर नपुंसक हूँ
क्योंकि मेरे चेहरे पर न तो चिन्ता है, न घबराहट
न परीशानी है न उद्विग्नता।

पर सच मानो मेरे मित्र
मेरे बाप दादों में से कोई था
जो जामुन के पेड़ पर अपना कलेजा टाँग
तुम्हारी दादी परदादी से मिलने गया था,
और बीच धार से वापस होकर जब वह उस पेड़ पर
अपना टंगा हुआ कलेजा वापस लेने आया था
तो वहाँ उसे वह नहीं मिला था।

सुनो मेरे घड़ियाल दोस्त
मेरे बाबा के बाबा के बाबा के बाद
जो हम बन्दरों की नसल पैदा हुई है,
उसके जिस्म में कलेजा बना ही नहीं
दिल गुर्दे लगे ही नहीं,
इसलिए : मैं निश्चिन्त हूँ
तुम मुझे चाहे जहाँ ले जाओ

न तो मुझे उस नदी किनारे के जामुन के पेड़ पर
वापस लौटने की ज़रूरत है
और न कलेजा न रहने से कोई भय, मौत का संत्रास
क्योंकि मैं और मेरी नसल
हज़ारों वर्षों से बिना कलेजे, गुर्दे, दिल के
जीती आ रही है और जीती चली जायगी

मैं मूर्ख नहीं हूँ
जो तुम्हारी पीठ पर
शान्त, मौन, निश्चिन्त
बैठा चला जा रहा हूँ

हितोपदेश : २

ग्रात्माराम

आत्माराम ने हीरामन तोता को
बड़े मनोयोग से पढ़ाया : राम राम, सीता राम !
तोता तोता ही होता है :
उसने रट लिया : राम राम, सीता राम।

आज इस बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में
आत्माराम हो गया नास्तिक
उसे लगा लाख मना करने पर भी
हीरामन रटता ही रहता है : राम राम सीता राम !
उसने उसके पंख कटवा डाले
ज़बान निकलवा डाली
और पंजों के नाखून तोड़ डाले,
पिंजड़ा खोल दिया ताकि कोई बिल्ली या बाज़
उसे ले जाय और आत्माराम को छुट्टी मिले !

अब हीरामन तोता आज़ाद है,
केवल आम-आम ही रटता है,
सी-सी-सी ही करता है,
लेकिन बिल्लियाँ उसे सूँघ कर चली जाती है
और बाज़ मण्डरा कर वापस उड़ जाते हैं,
उन्हें ज़मीन से नफ़रत है
वह उड़ते हुए तोते का शिकार पसंद करते हैं
आम-आम उन्हें पसन्द नहीं

लेकिन आज
इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में
आत्माराम ज़मीन से ऊपर उठ गया है
और
आम से आम
और ख़ास से ख़ास होता जा रहा है !

●

हितोपदेश : ३

गंगाराम : एक किंवदन्ति

एक ज़माना था जब गंगाराम ने एक साँड देखा था
और गंगानाथ ने अपने बड़े भाई साँपनाथ को आमंत्रित किया था।
एक ज़माना था जब गंगाराम ने कूप मण्डूकों को
यह बताने के लिए कि साँड कितना बड़ा होता है
अपने शरीर को इतना फुलाया था
इतना, इतना, इतना ज्यादा कि····
कि अपने अहंकार में
फट कर मर गया था।

एक ज़माना था
जब साँपनाथ अपने से नहीं
गंगराम या गंगाराम के बड़े भाई के बुलाने पर आता था
अपने आप कूप मण्डूकों में—
घुस पैठ नहीं करता था।

आज तो कलि युग है मित्र !
साँड अपनी जमात में मेढकों की नक़ल करते करते
घिस घिस कर—
छोटा होते होते मर रहा है
लेकिन नहीं बता पाता कि—
मेढक कितना छोटा होता है,
और घुल घुल कर शून्य होता रहा है !

और साँपनाथ
अब गंगाराम या गंगानाथ का इन्तज़ार नहीं करता
अपने आप
कुएँ में दोस्त की मदद के लिए
सरक आता है

वे जिन्हें साँपनाथ पचा जाता है
मुक्त होते हैं
और जिन्हें वह मुँह में रखकर उगल देता है
वे अफवाह बन जाते हैं।

हितोपदेश : ४

जंगल नरेश

जंगल नरेश ने
दयाराम ख़रगोश के सामने
दुम दबा कर नाक रगड़ा
देर से पहुँचने के लिए माफ़ी माँगी
और कहा—
“क्षमा करें हुज़ूर
क्या करता ?
रास्ते में एक दूसरा ख़रगोश मिल गया था
बार बार आग्रह करता रहा—
“मुझे खाओ” “मुझे खाओ”
लेकिन मैंने संयम वर्ता—
कर्तव्य तो कर्तव्य है, नियम, नियम
आपका आदेश था—“मुझे खाओ”
फिर कैसे उस ख़रगोश को खाता,

क्षमा करें महाराज
विलम्ब से आने की बात भूल जायें
आप को खाने के लिए :
मैं जंगल नरेश प्रस्तुत हूँ ।”

दयाराम ख़रगोश ने
एक बार अपने बड़े बड़े कानों को खड़ा किया
गुर्राया और बोला—

"कौन है यह दूसरा ख़रगोश
जो मेरे राज्य में घुस आया है
मुझे ले चलो
मैं युद्ध करूँगा ।"

जंगल नरेश ले गया दयाराम ख़रगोश को
उसी हज़ारों वर्ष पुराने कुयें पर
जहाँ उसके बाबा के बाबा के बाबा के बाबा को
दयाराम के बाबा के बाबा के बाबा के बाबा ले गये थे
और जहाँ वह प्रथम जंगल नरेश
अपनी परछाईं को प्रतिद्वन्दी समझ
कुयें में कूद कर मर गया था ।

इस बार ख़रगोश ने जंगल में झाँका
परछाईं देखी, आवाज़ लगाई और गरजा
लेकिन भीतर से कोई आवाज़ नहीं आई
तब ख़रगोश कुयें में कूद गया ।

बाहर जंगल नरेश बड़े ज़ोर से हँसा बोला :
बदला ले लिया मैंने अपने बाबा के बाबा के बाबा का ।
ख़रगोश कुयें में पड़ा सुनता रहा
मौत से बच निकलने पर अपनी पीठ ठोकता रहा ।

अब उसे प्रतीक्षा है किसी यात्री की बाल्टी की
जिसमें बैठकर वह फिर बाहर आ सके ।

चूहे

कल तक वे सफ़ेद थे
आज इनका साथ कालों से हो गया है,
कल तक ये महज़ पालतू थे
इसलिए व्यवस्था को कुतरते नहीं थे,
व्यवस्था में जीते थे।
लेकिन आज से यह फालतू हो गये हैं
इसलिए व्यवस्था से लेकर
अपनी दुम तक कुतरने में इन्हें संकोच नहीं है।

हर प्लेग में इनकी कीमतें बढ़ जाती हैं
एक एक पिरामिड की तरह,
साँची और सारनाथ के स्तूप की तरह
स्थिति प्रज्ञ मौन पत्थर हो जाते हैं।
इनकी तलाश होती है,
गली गली, इधर उधर अन्धेरी बस्तियों में
ये ढूँढ़े जाते हैं;
कितनी क़ीमत है इनकी
कितना महत्त्व है इनका
क्योंकि यह हर अन्धेरे में
सील भरी ज़मीन के नीचे
अपनी बिरादरी से लेकर इन्सान के बिरादरी तक
एक ऐसा विष बोते हैं
जिसकी क़ीमत आदमी अपनी ज़िन्दगी देकर
चुकाता है!

कल तक यह सब प्रयोगशाला में थे
आज वहाँ से ये खुले आसमान के नीचे आये हैं
इन्हें हर ताजी हवा, हर नयी रोशनी बुरी लगती है
ये अपने चारों ओर इसीलिए एक ऐसी खोल मढ़ लेते हैं
जिसे बेध कर कोई भी शंका पार नहीं जा सकती

मैंने आदमी को चूहों से पृथक् करने के लिए
बहुत सोचा,
चाहा कहीं कुछ ऐसा मिल जाय
जिससे मैं यह सिद्ध कर सकूँ
कि आदमी जो जर्मस
पालता है,
उसमें चूहे मरते हैं, आदमी नहीं
लेकिन नहीं मिला।

●

बिल्लियाँ

हर रास्ते को काट जाने वाली नसलें
गद्दीदार पंजों में ज़हरीले नाख़ून छिपाये
हर अन्धेरे में ख़ामोश
लेकिन हर उजाले से परेशान।

मैंने देखा है उन्हें बहुत धीमे बोलते,
आहिस्ता आहिस्ता चलते
हर गति से लक्ष्य को बेधते,
लेकिन मैंने देखा है उन्हें
महत्त्वाकांक्षा की सीढ़ियों पर अन्धेरे में
ख़ामोश रोंगटे खड़े किये
शान्तिपूर्ण बढ़ते,
रास्ते काटते
गद्दीदार पंजों से मुँह धोते
फिर उनमें से
एक एक नाखून को तेज़ करते

मैंने देखे हैं
और देखे हैं—
ग़ौर से देखे हैं
और तब

मैंने उस चितकबरे अन्धेरे में सुनी है
एक आवाज़...
एक फ़ड़फ़ड़ाहट,

एक छटपटाहट
मौन अकुलाहट
फिर एक आखिरी चीख़
फिर एक सन्नाटा
धीरे धीरे गलता !

फिर एक चुनचुनाती हुई आवाज़ में कैद
ख़ामोश बे जान झिल्लियाँ
चितकबरी, गेरवी, सफ़ेद पोश बिल्लियाँ
मैं उन्हें जानता हूँ
पहचानता हूँ !

●

कुत्ते

काले, आईवेरी ब्लैक, झबरे, स्लैक
आस पास ऊँघते, भूँकते, आफ़ द ट्रैक
देशी, विदेशी जैन्ट के साथ जैक ।

एक बताशे के सूराख़ में जैसे पानी रिस जाय ।
जैसे पानी की हर बूँद सैलाब बन जाय ।
जैसे हर सैलाब एक धधकती सलाख़ बन जाय ।

आम रास्ते पर चलने के पहले
जो दो चार ढेले कंकड़ पत्थर अपनी जेब में रख लिए हैं
वह क्रान्तिकारी की जेब में बन्द बम नहीं हैं
व महज़ मिट्टी के बने कुछ टुकड़े हैं,
ज़मीन का वह हिस्सा है जो ज़मीन से छूट गया है,
और जिन्हें मैंने उस घड़ी के लिए रख छोड़ा है—
जब पहचानी शकलें अनचीन्ही सी
एक साथ चारों ओर से हर अकेले को
आतंकित करने लगती हैं !

मैं उन्हें केवल जाति से नहीं
कर्म से भी पहचानता हूँ ।

अट्ठारहवाँ मैं

तुमने मुझसे कहा होता
मैं तुम्हें अपने ही मुहल्ले में
वह नुक्कड़ वाली परचून की दूकान—
बता देता; जहाँ तमाम सौदा सुल्फ़ के साथ
वह ज़हरीली दवा भी मिलती है
जिसे खाकर अभी परसों
एक अनाम कोई मर गया है,
और उसके पहले पिछले पाँच वर्षों में
सोलह और मर चुके हैं।

यह सत्रह के सत्रह सभी विद्वान थे
पढ़े लिखे, सनद याफ़ता, आलिम फ़ाज़िल
अट्ठारहवाँ मैं—
अभी जूझ रहा हूँ
आस्थावान हूँ :
नहीं चाहता
गीता का अट्ठारहवाँ अध्याय
और पुराणों की अठारह संख्या झूठी पड़े
इसीलिए कहता हूँ
तुमने मुझसे कहा होता
मैं तुम्हें बताता···

लेकिन तुम तो सागर मंथन करने लगे
उठा लाये मन्द्राचल पर्वत
वासुकी को मदारी की पिटारी से चुराकर

रस्सी की तरह बटने में तुम्हारी दिलचस्पी थी
देवताओं और असुरों दोनों को एक ही साथ
सह भागी बनाने में—
तुम्हारी रुचि थी,
तुम दोनों को बराबर देखना चाहते थे
इसीलिए दोनों हो गये बराबर के साझीदार
और निकाल लाये विष उस अतल तल से
जहाँ सदियों से पड़े थे, विदग्ध सीपियों में
मुक्ता मणि, कनक कलश
एरावत, धनवन्तरी, सुरा,
चाँद, चिन्तामणि उचश्रवा
जाने क्या क्या निकाला तुमने—

लेकिन विष जो था हलाहल उसे पचा नहीं सके—
यदि विष ही निकालना था
तो क्या ज़रूरत थी इतने बड़े कर्मकाण्ड की
चले आते मेरे पास
मैं बताता ज़हर कहाँ मिलता है
आदमी कितने सस्ते में मरता है

लेकिन तुम आदमी तो थे नहीं
इसलिए चाहे वह विष ही निकालना हो
तुम्हें चाहिए वह सब का सब कर्मकाण्ड
मन्द्राचल, वासुकी, सागर, देवता, असुर, चन्द्रमा, सूर्य, राहु, केतु
तुम आदमी की तरह मर भी तो नहीं सकते थे !

मुझे देखो
मैंने मथा है जीवन भर विष ही विष
चाहा है इसे ही शोध कर विष बना दूँ
सुरा ले जाय चाहे जो
ले जायँ अमृत देव-पुत्र
विष पर अपना ही अधिकार रहे

कण्ठ तक रुके नहीं
आपाद क्षार क्षार कर वह मुझे वरण करे
कुछ वह बदले
कुछ मैं बदलूँ
कुछ वह शुद्ध हो
कुछ मैं पतित होऊँ
और कुछ नहीं तो उस सारी परम्परा पर
एक प्रश्न चिह्न ही लगा सकूँ उस सब पर
जो पौरुषेय और अपौरुषेय के बीच
आदमी को सूली पर टाँग तमाशा देखता रहा है ।

लेकिन मैं आदमी था न
मुझे कहाँ मिलती सफलता
तुम देवता थे, ईश्वर थे, परात्पर प्रभु थे
तुम्हें तो मिल गये अमिताभ शिव
नाटक अच्छा था : मैं कहूँगा इसे लीला ही तुम्हारी,
विष गले तक ही रह गया
मुझे देखो,
मैं पी गया हूँ सारा का सारा
और फिर भी ज़िन्दा हूँ ।
तुम्हें शायद नहीं मालूम
आदमी जब ज़हरीली दवा बना रहा था
वह नहीं जानता था इससे आदमी भी मर जायगा
या यह कि
आदमी की ज़िन्दगी इतनी सस्ती होगी !

एक अवतार और

मैंने जब भी लिया विष
आकाश से तुम अवतरित हो गये
मैंने जब भी लिया अमृत
मृत्यु की स्मृति बन तुम तिक्त कर गये,
मैंने जब भी गहा गहन तम
तम-नाभिका में प्रकाश बन फूट पड़े
मैंने जब भी शंका, आशंका, आस्थ अनास्था
कुछ भी ग्रहण किया,
तुम केवल प्रश्न बन आ गये ।

मैं निरुत्तर हूँ
क्योंकि प्रश्न यह है कि—
तुम उत्तर कब बनोगे ?

●

मधु-रिक्त

वह जो मधु था
वह तो उछल गया
तलछट में जो कुछ शेष है
वह है तिक्त विषम-रस
उसे भोगने की साध कहाँ से लाओगे ।

अनुपम है जो कुछ वह उपमाहीन है
क्या इस अद्वितीयता को भी उससे जोड़ोगे
जो है सामान्य, सम, उपलब्ध यम, नियम
क्या तुम भोक्ता होगे उस सबके !

वह जो अनुपम है
वह मधु भी है विष भी है
वह जो अद्वितीय है
वह प्रभु भी है दीन भी हैं
वह जो अलौकिक है
लोक से सम्पृक्त है और लोक का अभाव भी है
बोलो,
जो विषम है उसे
सुन्दरता की सीमा तक
ले जाने का पुरुषार्थ करोगे ?

तुम्हारा मौन ही है मृत्यु हमारी
तुम्हारा मुखर होना ही है मृत्युंजयी कांक्षा
बोलो,

वह जो मधु था
और जो उछल गया
क्या उसे वापस ला सकते हो,
या इस विषम को ही इतना अद्वितीय बना दोगे
कि उसकी विसंगतियों में ही
हम देख लेंगे सब कुछ
प्रभु की प्रभु सत्ता
दैन्य की करुणा
लोक की अलौकिकता
और पुरुषार्थ की सार्थकता ।

सामने के मरू में
उगी हुई एक हरीतमा तुमने कभी देखी है
वह उछले हुए मधु की बूँद नहीं
वह विष की विषमता की जिजीविषा है

आओ
हम जो नितांन्त वंचित
स्नेह के आकांक्षी है
प्रणाम करें उसको
क्योंकि वह मधु वैभव नहीं
कटु अनुभव की विकसित कल्पना है,
आओ अपनी अपनी विषमता को
ऋचा सा पावन बना दें

अनुत्तरित प्रश्न

मैंने तुम से बार-बार पूछा
तुमने केवल संकेत दिया,
केवल आशीर्वाद की मुद्रा बनाकर
तुम बैठ गये,
तुमने समझा अभयदान की मुद्रा से ही
सृष्टि का संकल्प टिका रहेगा,
तुमने यह नहीं देखा कि उस अभय मुद्रा की छाया में
तुम्हारा ही प्रेत तुम पर हँस रहा है
इसीलिए मैंने तुमसे पूछा था
यह मुद्रा समाप्त करो
उठो,
वाणी बनो, भाषा बनो, मंत्र बनो
ताकि यह छाया,
तुम्हारे प्रेत की छाया से अलग हो सके
और मैं देख सकूँ तुम्हारी अभय मुद्रा
ज्योति स्तम्भ, अनासक्त रूप,
लेकिन तुम नहीं माने
मेरे प्रश्नों के उत्तर में
तुमने अपने हाथ और कड़े कर लिए
आँखों को और स्थिर कर लिया
शरीर को और भी जटिल बना लिया,
और मेरे प्रश्न गूँजते रहे
तुम शक्ति स्रोत होते हुए भी,
जड़ता में बदलते रहे।

मैंने तुमसे कहा
शून्य में नहीं—नीचे देखो
यह अतुल तुमुल नाद नहीं
तुम्हारी प्रार्थना में गाई जाने वाली ऋचायें हैं
लेकिन तुम अपने समानान्तर ही देखते रहे
तुमने जाना नहीं
कि यह जो प्रार्थना है
वह तुम्हारी नहीं मेरी अवधारणा है
व्याकुल है तुम तक पहुँचने के लिए,
लेकिन तुमने घेर लिया अपने को
अपने ही आभा मण्डल में
और मेरी अवधारणा उसके बाहर
एवं याचिका, परिव्राजिका सी खड़ी रही।

मैं नहीं कहता कि तुम जो कुछ करते हो न करो,
या बेबसी में मत हिलो डुलो
मैं बस इतना ही चाहता हूँ
मेरे साथ साथ—
तुम भी उगो

अवकाश के क्षण

हमें, हमारे आकाश को
और विस्तार दो,
बढ़ रहे हैं हमारे हाथ
वह जो तुमने पंखों की तरह
हमारे कन्धों से जोड़ा था
वह हो गया है आजानुबाहु,
वह अब रहना नहीं
थहना चाहता है किसी अनन्त विस्तार को।
चाहता है समेटे ले सारे आकाश के अवकाश को
समेट ले आर्द्र आकाश-गंगा का सारा जल
मण्डित कर ले इन शून्य नक्षत्र मणियों से अपना ललाट,
सागर के सारे जल को मथ डाले
तल से निकाल ले सीपी सम्पुट में सोये अनबिधे मोती
और सारे वनस्पति की औषधि सम्पदा।

सारा ब्रह्माण्ड है हमारे सामने
उसके बोध की भंगिमा में दैन्य नहीं,
एक उदात्त का समव्याय है।
अंकुरित मेरे अपने अहंकार को
जोड़ो उस विराट से
जो कालजयी होने की अपेक्षा
वह क्षणभंगुरता दे
जिसमें अपना ही अस्तित्व-बोध
तुम्हारा बोध दे सके,
जिसमें आन्दोलन हो सके

वह लघु रजकण भी
जो संतुलित करता है सृष्टि भार ।

सुनता हूँ अहर्निशि
तुम्हारे ही नाद-स्वर
संगीत, गीत, लय, छन्द
लेकिन हर छोटी से छोटी स्वर लहरी
शव्द-ब्रह्म को विस्तार दे
छोटे से छोटे कोष्टकों में
जीवन जगमगा सके
मेरी अवरुद्धता को वह गति मान दो ।

पंचामृत सा यह जो
सारा अमृत कोश बिखरा है सृष्टि में
इसे संग्रह कर तुमने जो दिया अमृत-जल
वह लोकोन्मुखी हो बन जाये पतित पावनी
उस बिन्दु को बिना सिन्धु की गरिमा दिये
अजस्रवाहनी गति दो
भाव को अविर्भाव
और अविर्भाव को पुनर्भाव दो ।

●

नव-ग्रागंतुक से

तुम फिर आ गये मेरे पास
कितनी बार कहा बेवक्त मत आया करो,
मैं जब रचना करने बैठूं,
तुम्हें याद करूँ, बुलाऊँ तब आओ
तब मैं तुमसे बातें करूँ
देखूं कितना दम है तुममें
कितना रस है, कितने भाव हैं
कितनी क्षमता है, कितने अलगाव हैं ।
मैं इस समय जब घर के खर्चे का खाता लेकर
बैठा पत्नी से पूछ रहा हूँ ।
आटा दाल चावल
नून तेल लकड़ी
बच्चों की फ़ीस किताब
बहू के कपड़े लत्ते की बात
तीज त्योहार खुशी गमी की बात,
तब तुम आ गये, लगे चिल्लाने ?

अब मैं क्या करूँ
तुम्हारी रचना शीलता को बेचूं ।
नहीं मेरे दोस्त
तुम आओ बैठो
जब आ ही गये हो तो
इस पचड़े में भी मैं तुम्हें झेलूँगा ।

क्यों कुनमुनाने लगे यार
इतनी लम्बी फ़िहरिस्त देखकर घबड़ा गये

हमेशा याद रखो
यह फ़िहरिस्त ज़िन्दगी की—झबले से शुरू होती हैं
और कफ़न पर ख़त्म होती है,
अभी तो झबला ही झबला है यार
फिर क्यों रोने लगे बेकार।

तुम कायर हो मेरे दोस्त
तुम क्यों बहार ही देखना चाहते हो,
पतझर को भी देखो।
ज़िन्दगी खुशियों का सिलसिला नहीं यार
बैठो इस जोरू जाता के बीच
इसका भी एक मज़ा है।

मैं जानता था कि तुम ठहर नहीं सकते
तुम इतने कच्चे हो कि ज़मीन कहीं भी धसके
चूर तुम होते हो
पानी कहीं बरसे, रिसते तुम हो
ऐसे लुब्दी वाले विचार-भाव मुझे नहीं चाहिये,
इधर देखो मुझे
मैं कभी नहीं रिसता
हमेशा अपना सीना खोले सब झेलता हूँ
वर्षा, आतप, बसंत, पतझार।

देखो तुम अभी जाओ,
शहर के उस पार मेरा एक दोस्त रहता है—शहरयार
उससे मिलो : वह जानता है संत्रास क्या है ?
में तो जीता हूँ यार
जो भी आ जाये—ढोता नहीं
तुम उठो, जाओ उसी के पास।

शहरयार से

तो आखिर तुमने मान ही लिया कि ज़िन्दगी में कोई सार
नहीं है ?
बड़ा ग़जब हो जायगा अगर तुम इसको
इसकी वास्तविकता तक ले जाओगे ।
पेड़ों पर फूल नहीं, आग उगेंगे
नदियों का पानी लहू लहान नज़र आयेगा
हवा, भुरहरी का झोका काँटे सा चुभेगा
और जो यह पूरा महानगर अपनी दीर्घकाया का विस्तार
लिए खड़ा है
स्मशान सा सूना वीरान नज़र आयेगा ।
सौन्दर्य में केवल एक प्यास दिखेगी कंकाल की
सारा माहौल एक लाश सा टँगा लगेगा
और तुम मेरे दोस्त शहरयार
एक फिके हुए रद्दी काग़ज़ से
इधर उधर उड़ते नज़र आओगे ।
मुझे देखो,
मैं भी तुम्हारी ही तरह इस शहर में आया था
लगा था मुझे भी कि यह सारा शहर हंगामा है
एक तस्वीर है जिसमें प्राण है
लेकिन तुम्हारी तरह मुझे भी लगा
यह सब बेकार है
निरर्थक है ।
लेकिन मैंने कभी नहीं महसूस किया
कि ज़िन्दगी में कोई सार नहीं है
क्योंकि कभी भी मैं निराशा को ज़िन्दगी के नज़दीक

नहीं ले गया—
मैं केवल निराश होता रहा अपने से
अपनी ज़िन्दगी से नहीं।
मुझमें तुममें यही फर्क है मेरे दोस्त
तुम अपने से नहीं ज़िन्दगी से निराश होते हो
और मैं अपने से निराश होता हूँ ज़िन्दगी से नहीं।
मैं परिस्थिति हूँ
तुम भी अपनी परिस्थितियों से बने हो।
लेकिन ज़िन्दगी परिस्थितियाँ नहीं होतीं
वह स्थिति है
वह होती है और होकर वह निरन्तर होती रहेगी।
उसमें कोई पेच ओ ख़म नहीं
वह तो केवल होकर होती हैं
इसलिए उसमें कोई घुमाव नहीं,
वह सीधी कुँआरी माँग सी पवित्र ही रहती है।
ज़िन्दगी से कोई नहीं जूझता
जो भी जूझता है अपनी परिस्थितियों से जूझता है,
स्थिति होती है तभी परिस्थितियाँ भी आती हैं
स्थिति रहती हैं परिस्थितियाँ चली जाती हैं
स्थिति ही ज़िन्दगी है मेरे दोस्त शहरयार
स्थितियाँ निस्सार नहीं होतीं।

तुम नहीं मानोगे मेरी बात
तो आओ मेरे साथ
देखो इस फूल को
इसके बग़ल में यह कली है न ?
यह फूल भी कली ही था न ?
कली से फूल होने में परिस्थितियाँ बदली हैं
स्थिति वही है और तब भी रहेगी
जब यह फूल फल में बदलेगा,
और फल से बीज
और बीज से पौधा

और पौधे से फिर कली
और कली से फिर फूल ।

देखा तुमने परिस्थितियाँ बदली हैं
रंग रूप बदला है
आवरण बदला है
चाँदनी और धूप का अर्थ बदला है
वैसे देखो तो रंग वही है
रूप भी वही है
आवरण भी वही है
चाँदनी और धूप भी वही है

मिट्टी में बीज आँच चाहता है,
पौधा बन पानी चाहता है,
कली बनता है तो हवा चाहता है,
चटखने के लिए
फूल होता है तो चाँदनी चाहता है,
धूप चाहता है

स्थिति वही है दोस्त शहरयार
परिस्थितियाँ आई हैं गई हैं
ज़िन्दगी वही रहती है
सिर्फ़ माहौल बदलता है
इसलिए ऐ मेरे दोस्त शहरयार
आओ हम स्थितियाँ स्वीकारें
परिस्थितियाँ झेलें
ज़िन्दगी में सार है—उसे ढूँढ़ें

इतिहास का अन्त

जब हर तरफ़ से भीड़ आ रही हो
और सड़क जमकर सिल हो गई हो
तब रुको नहीं, इन्तज़ार भी मत करो
निकल जाओ उसी जुलूस के साथ
क्योंकि इस शहर में जब जुलूस निकल जाता है
तब मौत आती है
और बटोर ले जाती है उन सबको जो दुविधा में रहते हैं।
अगर जुलूस न भी आये
तो भी तुम सड़क पर चलो
अगर आदमी होगे तो तुम ख़ुद ही जुलूस हो जाओगे।

लेकिन चलो ज़रूर, रुको नहीं
जुलूस आने के पहले चलोगे, कवि कहलाओगे
साथ चलोगे तो दार्शनिक,
बाद में चलोगे तो इतिहासकार—
कब्र से उठकर क़ब्र में जाओगे।

जब इतिहास झिलमिला रहा हो कवि बनो
जब इतिहास चल रहा हो क्रान्तिकारी बनो
और जब इतिहास जा चुका हो क़ब्र बनो
हर क़ब्र एक कविता का अन्त होता है

एटलस से

इतनी सारी शक्ति लेकर क्या करोगे ?
निर्जीव हो जाओगे ।
इसलिए शक्ति की संभावना जियो
वही जीवन है ।

हथेली की फ़सल

गंगा जमुना मेरी हथेली में हैं
हरी भरी फ़सलें मुट्ठियों में हैं
भूख पेट में है
प्यास आँखों में
अथाह समुद्र है हृदय में।

सामने झुलसे खेतों की असीम रेखा
आक्षितिज फैली हुई है
एक हरी बाल कहीं नहीं है

मैंने जब मुट्ठी खोली
तो सूखो थी
तुमने प्लावन माँगा था
देखो इस सूखे को
बिना जल भी सब डूब जाता है

कल रात कुछ मेहमान आये थे
सुबह होते चले गये
काश वे बादल होते मेहमान न होते
तो खेत हरे भरे होते
फ़सलें खेत में होतीं
समुद्र की थाह मिल जाती

लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ
सामने वाले बिजली के खम्भे पर

किलहटी के बच्चे इस साल नहीं जन्मे,
अब घोसलों के तिनके सूने हैं
केवल एक लावारिस चिड़िया घूम रही है
लगता है चिड़िया नहीं
कुछ सूखे पंख खेतों पर मण्डरा रहे हैं।

किलकिल् काँटा

घर की लिपी पुती दीवार पर
कोयले से एक बच्चा कुछ लकीरें खींच रहा था
माँ ने कहा—"क्या करता है पिता पर कर्ज़ा बढ़ेगा !'
मैंने सुना । चुप रहा ।

व्यास ने गीता भी ऐसे ही लिखी होगी
खेत से, नदी तट से लौटती माता ने कहा होगा
"क्या करता है ? पिता का कर्ज़ा बढ़ेगा ।"

मैं जो लिख रहा हूँ सफ़ेद काग़ज़ पर
कर्ज़ा बढ़ा रहा हूँ पिता का,
कौन सुनेगा यह कविताएँ
आवारा फ़ाहिशा हवायें ज्यादा अच्छी हैं
जो पोथी के सारे पन्ने के पन्ने बिखेर देती हैं ।

शाम होते ही अन्धेरे में
जब सफ़ेद दीवार ज्यादा चमकती है
बच्चों की काली रेखाओं से ही मैं पहचान पाता हूँ
मेरे कमरे की हद यह है,
इसके आगे छत है
छत के आगे मुण्डेर नहीं है
इसलिए ख़तरा है ।

●

नंगापन

हम तुम दोनों ही नंगे हैं
यह मत समझना क़ीमती लिबास पहनने से
आदमी का नंगापन छिप जाता है
आँखें जो वासनामय होती हैं
वह अन्तर्यामी सी
सब कुछ देख लेती हैं
बाद में याद आता है तुम नंगे नहीं
क़ीमती लिबास में लैस शहज़ादे हो ।

भीख देने वाला भिखारो नहीं होता ?
ऐसी बात न मैंने सुनी और न जानता हूँ
कल जिसने मुझे भीख दी थी
आज वही मुझसे माँग रहा था
ऐसा नहीं है कि जो मुझे देता है
उसे मैं नहीं जानता
वह जब मुझे दे चुकता है : दया, कृपा, करुणा
तो मैं उसे सँजो कर रखता हूँ
जानता हूँ एक दिन यह सब हमें वापस करना है
गिन गिन कर : एक एक ।

वह कल्पवृक्ष भला कैसा होगा
जो सिर्फ़ देता ही है, लेता नहीं
"सुना है"—किसी ने कहा और रुक गया,
मैंने उलट कर देखा
वह मेरी ही छाया थी, नंगी निहंग ।

●

तुम्हारे आने से

तुम्हारे आने से
यदि कहूँ घर पवित्र हुआ
तो इस कथन में कविता होगी
सत्य नहीं,
क्योंकि यदि मेरा घर अपवित्र होता
तो मैं न तो यहाँ रहता
और न तुम यहाँ आते ।

तुम्हारे जाने से
यदि कहूँ मेरा मन दुखी हुआ
तो यह न कविता है न बकवास
क्योंकि मैं इसके पहले सुखी कहाँ था
जो दुखी होने की बात उठती,
मेरे निरन्तर दुख के प्रवाह में तुम आये
यह आक्षेपण है,
पर हर आक्षेपण का विसर्जन
केवल यथा-स्थिति देता है—
बस ।

तुम अगर न आते तो यही होता
मैं अपनी एकरूपता में जीता,
तुम्हारे आने से जो व्यतिक्रम हुआ
वह एक निरन्तरता के प्रवाह का अन्तराल था,
न मैं अपने दुख से हटा था,
न तुम अपने सुख से हटे थे

हम तुम केवल कुछ क्षणों के लिए ठहरे थे
अपनी अपनी जगह,
तुम अपने प्रवाह में वापस गये
मुझसे मेरा प्रवाह जुड़ गया ।

कहो तो कह दूँ तुम्हारे मिलने से स्वर्ग मिला
पर असलियत यह है :
  जब तुम मुझसे मिले थे
  तभी मेरे बार्जे के नीचे एक आदमी
  एकसठ दिन तक भूखा रहने के बाद मरा था,
  और कुत्ते रोने लगे थे
मैंने विवेक से देखा : दुख जीत गया था
हम तुम दोनों ही हार गये थे ।

●

एक एक्स्ट्रा : चार घोषणायें, दस स्थितियाँ

पूर्वाभास

एक बहुत बड़ा नक़शा है ।
उस नक़शे में एक बहुत बड़ा वृत्त है
उस वृत्त में आर पार एक आकक्षांश रेखा है
एक दूसरी रेखा उस आकक्षांश को काटती है
और इस तरह
एक चौघेरा बन जाता है
और इस चौघेरे में सैकड़ों बिन्दु हैं
और उन बिन्दुओं में से एक नन्हा सा बिन्दु और है
उस नन्हें से बिन्दु में कहते हैं करोड़ों और अरबों लोग रहते हैं
उन करोड़ों अरबों से अलग अलग
उन करोड़ों के साथ साथ
मैंने देखा है :
उन्हीं में से एक मैं हूँ,
यानी उन करोड़ों अरबों में से
उनका ही अन्तिम करोड़वाँ हिस्सा,
यानी एक अकेली इकाई
जिसमें इन करोड़ों का अंश है
लेकिन जो इन करोड़ों से अलग भी है
अकेला, सबका
सबका, अकेला
अकेला :
सबकी संवेदना भोगता है
इसलिए सबका अकेला

क्योंकि : वह जिसे भोगता है
हमेशा हर भोग की स्थिति के बाद
बच जाता है,
इसलिए
वह भोगता, बचता
मैं : लक्ष्मीकान्त वर्मा
यानी करोड़वाँ चेतन
१२ जनवरी १९६५ को
जीता जागता
एक अकेला इकाई :
घर में बन्द, धुँधला
गींजा अलगींजा
एक ठुकराई बाँबी से निकला—
एक अकेला :
मौत की तरफ़ बढ़ता—बेलौस ।

और यह मेरी पहली घोषणा है :
एक रील में लिपटे चित्र से
मैं विद्रोह करने निकला हूँ
निकलना चाहता हूँ
इसलिए मैं पहली घोषणा करता हूँ
मेरे चेहरे को औरों से अलग मत बनाओ
मैं स्वयम् अपनी शकल बना लूँगा !

और यह मेरी दूसरी घोषणा है :
मैं अभिनेता हूँ किराये का,
मुझसे ईमानदारी की माँग मत करो
मुझे एक स्थिति दो,
उस स्थिति का वातावरण दो
मैं उसके अनुकूल

उस प्रवाहित क्षण के दायित्व को
वहन कर लूँगा,

मैं काग़ज की नाव पर नदी के पार उतर सकता हूँ
मैं युद्धक्षेत्र में अपने को हाथी के पैर के नीचे कुचलवा
सकता हूँ,
मैं शिकंजों में अपने को कसवा सकता हूँ,
किसी ऊँची चोटी पर से हज़ारों फ़िट नीचे
किसी भी अन्धेरे खड्ड में कूद सकता हूँ,
और
यह सब करने के बाद
बिना किसी हीरो का रोल अदा किए
शाम को थका माँदा
अपनी संतान के लिए दो गैस भरे ग़ुब्बारे लेकर
अपने घर को ज़िन्दा वापस जा सकता हूँ

मैं :
केवल स्थिति का पूरक हूँ
नियन्ता या निर्देशक नहीं
मुझसे स्थितियों की विसंगतियों की माँग करो
ईमानदारी की नहीं।
मैं मात्र अभिनेता हूँ
अभिनेता जो हर स्थिति के भोग के बाद
भी बच रहता है !

मेरी तीसरी घोषणा है :
एक दस्ताने के नीचे
हमारी भाग्य रेखायें ठण्ड से बचने के लिए बन्द हैं
वह पसीजती हैं तो भी
और नहीं पसीजती हैं तो भी

मुझे उन्हें मान कर चलना है
बिना देखे देखना है
और बिना जिये जीना है
क्योंकि
मेरी सक्रिय उदासीनता में
जीने का अर्थ है :
बढ़े हुए नाखून की तरह जीना,
एक सीमा तक अनजाने उगना
और फिर खुद को तराश देना
और फिर उगना
और तराश देना ।

मेरी चौथी घोषणा है :
मैं आस पास से प्रभावित नहीं होता
उस रोड-प्लेट से निर्देशित नहीं होता
और इस मानसरोवर से खण्डित नहीं होता ।
मेरे लिए हर वह तालाब मानसरोवर है
जो गन्दे से गन्दे जल को गंगा से मिलाता है
क्योंकि : चाहे मानसरोवर से गंगा निकले
या तालाब से
मेरे इतिहास भूगोल पर इसका कोई असर नहीं पड़ता ।
इसलिए
मेरे लिए वह नाली भी गंगा है जो मेरा मैल ढोती है
और वह तालाब भी मानसरोवर है
जो खण्डित नहीं होता,
क्योंकि वह सेतु है
मेरे और तुम्हारे बीच का,
मेरी गन्दगी का
तुम्हारी पावनता का ।
इसलिए मैं आस पास से प्रभावित नहीं होता
यहाँ तक कि तुमसे भी नहीं
यह मेरी चौथी घोषणा है
जिसे लिखकर मैंने वेस्ट पेपर बास्केट में डाल दिया है

हली स्थिति

असंख्य हाथ····
असंख्य पैर
असंख्य जिस्म
असंख्य आत्माओं के बीच
मैं एक एक्स्ट्रा हूँ
जो असंख्य धड़कते हुये दिलों
असंख्य कमज़ोर कन्धों पर
असंख्य सलीबों को एक साथ
चलती फिरती तस्वीरों को देख रहा हूँ
और मेरे हाथों में एक कांटों का ताज है,
जिसे मैं किसी को पहना देना चाहता हूँ
लेकिन वे····
जो फूल माला लिये खड़े खड़े सो गये
वे,
जो आँखों में आँसू के दिये लिये खड़े थे
फ़रार हो गये,
और अब अकेला मैं हूँ।
जब उन असंख्य में से
किसी एक को चुनता हूँ
तो पता चलता है
वह भी मुझ जैसा ही एक एक्स्ट्रा है
और मैं
एक एक करके सब को चुन चुका हूँ
मुझे सब मिलते हैं अपने ही जैसे,
इसीलिये मैं अभी तक खड़ा हूँ
काश, कोई एक्स्ट्रा होने के बाद कुछ और होता
बिल्कुल मुझ जैसा ?
मैं
जिसे एक आग लगे हुये मकान की बीसवीं मंजिल से
एक कुनबे को
अपने कन्धों पर लेकर नीचे उतर आना है,

इसलिये मुझे चाहे चाल से, अकल से, दृष्टि से
चाहे जैसे हो यह पार्ट अदा करना है ।
मैं जानता हूँ
हर अस्वाभाविक स्थिति में
अस्वाभाविकता ही स्वाभाविकता है !

दूसरी स्थिति

नीला आस्मान
अन्धेरी रात कम
मगर उजला दिन नहीं,
आकाश गंगा : सुस्त हवा में दूर सरकती हुई ओढ़नी
वातावरण : ठण्डा, अफ़सुर्दा : लेकिन बर्फ़ नहीं
चाँदनी : मुर्दा लेकिन किसी की तरफ़ नहीं
दूर से आती हुई आवाज़ें
एक रोती हुई बिल्ली की,
आतंक पैदा करने वाले यंत्रों की
तैरती हुई सीटियों की,
पंखदार चींटियों की
सन्नाटा……
सन्नाटा……
सन्नाटा……

निर्देशक का कहना है
प्रकृति की इस सेटिंग में,
मैं जितना भी अप्राकृतिक हो सकूँगा
उतना ही सफल हूँगा
और सफलता……?
स्वयम् प्रकृति पर विजय पाना है ।

तीसरी स्थिति

एक पलंग
एक लिहाफ़

एक औरत रूप गर्विता
एक मर्द बदहवास
एक नौकर मूर्ख
एक दोस्त धूर्त
　　इतना बड़ा व्यंग्य
　　और मैं व्यंग्य को प्रतिमूर्ति
और इन सबके बीच
मुझे धीरोदात्त नायक का अभिनय करना है,
सुख : दुख
प्रेम : आक्रोश
घृणा : स्नेह
सबको साथ लेकर चलना है
हर टूटेपन को जोड़कर चलना है
बूढ़े पिता के मरने पर रोना है,
बीबी के साथ हँसना है
गुण्डों के साथ दोस्ती निभानी है
और नपुंसकों के साथ शौर्य दिखाना है,
　　निर्देशक का कहना है
　　खल नायक के मरने के बाद
　　उसने उसका पार्ट भी
　　धीरोदात्त नायक को दे दिया है;
मैं मन से चाहे जो हूँ
मुझे सदा धीरोदात्त ही रहना है
न कम होना है
न ज्यादा दिखना है ।

चौथी स्थिति : एक दुर्घटना

जिस गाड़ी की दुर्घटना के साथ मुझे जुड़ना था
वह १९५७ की आधी रात को
एक भयानक जंगल में हुई थी,
और आज १६ जनवरी १९६५ है
यानी उस पुरानी तस्वीर में हमें अपनी तस्वीरें जोड़नी हैं

मैं नहीं जानता
उस दुर्घटना में कितना मुझे जुड़ना है
और कितना उस तस्वीर को,
मगर........
इस समय स्टूडियों के नक़ली स्टेशन पर
मैं पूरी तरह घायल हूँ
मेरे हाथ पैर में खपाचियाँ बंधी हैं
दिमाग़ पर पट्टियाँ
इसलिए बग़ैर किसी सिलसिले के
मुझे एक साथ
दुर्घटना से लेकर
मरघट तक
और मरघट से फिर ज़िन्दा उठकर
अपने घर तक वापस जाना है,
मौत की हर तस्वीर में
मौत को स्थिर कर
अपने आप
वापस आना है ।

बहुत दिनों बाद पता चला
मेरी उजरत में से
खपाचियों की कीमत काट ली गई थी,
क्योंकि मरघट से उठकर घर तक जाने में
खपाचियाँ बँधी बँधी मेरे साथ चली गई थीं,
और उस रोज़ शाम की चाय
मेरी पत्नी ने
उन्हीं को जलाकर बनाई थी ।

पाँचवीं स्थिति : एक दोस्त का घर

एक दोस्त का घर है
जिस पर लिखा हुआ है : शुभ लाभ : स्वागतम्

मुझे आधी रात गये
उसी घर में घुस कर
अपने दोस्त के पैसे चुराने हैं,
चुराने हैं और चोरी करके निकलने के पहले
अपने दोस्त को इस तरह जगाना है
कि मैं : जो कि चोर हूँ
और दोस्त : जो कि अजनबी है
दोनों मिलकर चोर की तलाश करें
और अन्त तक चोर को न पकड़ पायें ।

मैं जानता हूँ
जिसके घर में मैं चोरी कर रहा हूँ
वह न घर है न मेरा दोस्त
फिर भी मुझे मुजरिम बनना है
और शराब की बोतल खोलना है,
शराब पीनी है,
और बेहोशी के आलम में गाना है
"यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः"

निर्देशक का कहना है
यह पून्य श्लोक गाते समय
मेरे चेहरे पर एक पक्के शराबी लोफ़र की
सम्पूर्ण हिंसा टपकनी चाहिए,
मैं नहीं जानता कि श्लोक का कितना अंश
मैं ठीक ठीक कह पाया हूँ,
पर यह सच है
उस रोज अपना पार्ट अदा करके
जब मैं घर गया
मुझे मेरे पड़ोसी ने बहुत बुरा भला कहा
क्योंकि वह अभी परसों ही
जेल से छूटकर बाहर आया था ।

छठी स्थिति : दुशमनों की बस्ती में

आज मेरे चारों ओर
एक दुशमनों की बस्ती उगा दी गई है
और मुझ से कहा गया है
दुशमनों की इस बस्ती में
हर दुशमन के सामने मैं अपने दोनों गाल
बारी बारी से बदलता चलूँ,
क्योंकि हमें तेजी के साथ
दुशमनों का हृदय परिवर्तन करना है।

मैं बार बार यही ढूँढ़ रहा हूँ
कि इन उगाई हुई बस्तियों में
रहने वालों के पास
हृदय है या नहीं,
और बार बार मैं इसी नतीजे पर पहुँचता हूँ
कि हमें जिस हृदय का परिवर्तन करना है
उसे इन बस्ती वालों ने पेड़ पर टाँग दिया है
और अब वह
एक चील के घोंसले की तरह
केवल डालों के बीच पड़ा है।

इन बस्ती वालों का कहना है
कि वह मुझ पर और मेरे अभिनय पर
विश्वास करते हैं
अर्थात,
मैं उनके हृदयहीन होने पर भी
उनका हृदय परिवर्तन कर सकता हूँ
और वह बिना हृदय के ही
हृदयवान कहलाये जा सकते हैं।
यानी,
चील के घोसले के अतिरिक्त भी
वे जी सकते हैं महसूस सकते हैं।

सातवीं स्थिति : युद्ध क्षेत्र में

मैं
जो यहाँ इस युद्ध क्षेत्र में
तुम लोगों के साथ खड़ा हूँ
मुझे तुम सबके साथ मरना है
और उस समय मरना है
जब किसी महारथी का चक्का रक्त की कीच में फँसेगा
और उस धँसे चक्के को कीच से ऊपर उठाने के लिए
जब कोई और दूसरी सख्त चीज नहीं मिलेगी

तब
मुझे उस रक्त सने कीच में लेट जाना होगा,
ताकि वह पहिया मेरे ऊपर से गुजर जाय
और वह महारथी
युद्ध-रथ में जब जब अपना पहिया फँसाये
तब तब हम, तुम, ये, वे, हम सब
बारी बारी से
एक सख्त ईंट बनकर
उसके रथ को उबार दे, मुक्त कर दे।

मैं उस जाति का एक्स्ट्रा हूँ
जो बिना किसी उद्देश्य के यूँ ही
हर युद्ध में
बराबर बार बार बार
खपता आया है।

मैं गर्व में था
मैं वह ईंट बनूँगा
मर कर भी जीवित रहूँगा।

लेकिन·······
भिश्ती ने युद्ध क्षेत्र में

पानी और ख़ूनी रंग ही नहीं फेंका
कीचड़ हुआ ही नहीं
पहिया फँसी ही नहीं

इसलिए मैं उस बिना भोगे दर्द का उच्छिष्ठ हूँ ।
एक बहुत बड़ी खपत
जब अपने किसी पात्र को
अनखाया ही छोड़ देती हूँ
मैं उसी स्थिति का
जीवित व्यंग्य हूँ ।

आठवीं स्थिति : अपनी ही कब्र पर

मैं वह एक्स्ट्रा हूँ
जो महज़ साक्षियों के मर्म को छूने के लिये
सदियों से यों ही दफ़न होता आया है
दफ़न होता रहेगा ।

लेकिन कुछ अजीब है
मैं दफ़न होने को प्रस्तुत हूँ
और जब मैं प्रस्तुत हूँ
तो सम्पूर्ण कथा में से
दफ़न होने का दृश्य ही काट दिया गया है ।

इसलिये
आज मैं वह एक्स्ट्रा हूँ
जिसे बिना दफ़न हुये
अपने दफ़न होने का भुगतान लेना है

नवीं स्थिति : महानगर के बीच

मैं,
जिसे आतशबाजियाँ छुड़ा कर
अपने पराजित नगर के चौराहे चौराहे पर

विजयी शत्रु सेना के साथ हर्षित होना है
और अपने ही स्वजनों को यह दिखाना है
कि मेरा सगा छोटा भाई
जो मेरे विरोध में
लेकिन मेरे साथ युद्ध क्षेत्र में मर गया
वह मेरा सहोदर हाते हुये मुझसे बुरा था।

क्योंकि उसमें
अपने ऊपर व्यंग्य करने की क्षमता नहीं थी,
उसमें अपने को
टूटा हुआ पाने की, देखने की, क्षमता नहीं थी;
उसमें अपने से उबर कर
केवल दूसरे के लिये—
अर्थात किराये पर कुछ भी
या जो भी आ जाय
उसे सहने की शक्ति नहीं थी
और
मैं चौराहे चौराहे
अपनी पराजय का जशन मनाता
आतशबाजियाँ छुड़ाता
सबसे प्रसन्न व्यक्ति हूँ
क्योंकि मैंने मान लिया है
मैं एक एक्स्ट्रा हूँ
महज़ एक्स्ट्रा।

दसवीं स्थिति : घर के बाहर

एक तेज गति में कुछ नहीं :
दो बाँहें और एक बाहुपाश,
दो आँखों में डूबा मोह-न्यास
दो धड़कती छातियाँ खुलने को आतुर,
एक धड़कता हुआ दिल
कन्धों पर अपनी-अपनी सलीब लादे

सारे के सारे लोग
एक नहीं : हज़ार, हज़ार, हज़ार लोग :
जिनके सिर पर ताज है
हथेलियों से हज़ार हज़ार बूँद लहू टपक रहा है,
लहू की बूँदों में पसीनों के क़तरे घुल रहे हैं
पसीने में डूबा लहू है
लहू से लत्त-फत्त सीना
और यात्रा लम्बी—
नितान्त लम्बी !

निर्देशन में यह लिखित था
कि यह सलीबें कार्ड-बोर्ड की हल्की
और काँटों के ताज प्लास्टिक के हल्के होंगे,
लेकिन बावजूद इसके
हम सब को काठ की वज़नी सलीबें मिली हैं
और काँटों के ताज असली मिले हैं

इस तीखे दर्द का साक्षी कौन है ?
निर्देशन और वास्तविकता के बीच
गोपनीय षड़यंत्र मौन हैं।

अकेला मैं ही
इससे अलग हूँ
क्योंकि मैंने अपनी सलीब
और अपना ताज
क़दम से क़दम मिलाकर चलने वाले
अपने एक साथी को
दे दिया है।

एक संवेत गीत : समापन कोरस

हम सब निकले आवारा पाँवों की गति बन
गली गली में :
सड़क सड़क पर,
चौराहे पर, हर थाने पर, हर गद्दी पर
युद्ध क्षेत्र हैं
कुरु क्षेत्र हैं
ओ नर्माई उम्रों वालो
नम आँखों, नम बाँहों वालो
कच्ची नींदों, सपनों वालो
जाओ, तुम सब वापस जाओ
हम इस युग के नये मसीहा :
महज़ एक्स्ट्रा
हम खपत मात्र,
दफ़नाये हुए तप्त इस्पात,
हम खाद और हम केवल ख़ाली,
हमें सलीबें ले जाने दो
वज्रकील इस वक्षस्थल पर ठुक जाने दो।

अब तक हमने महज़ एक अभिनय सरजा था
अब इस तपती क्वार धूप में,
चटख़ाने दो अपने अपने तन्तु शिथिल ये
बहुत बार हम मर कर जीये
जाने दो : तुम वापस जाओ

एक सार्थक
एक अनर्थक
एक महज़ मिथ्या वर्धक देह हमारी
हम पिता तुम्हारे
महज़ एक्स्ट्रा।

हमें आज तुम खप जाने दो
लहू लुहान रक्त में हमको
अपना लोहू दे देने दो
खप जाने दो
खप जाने दो !

हम सब निकले आवारा पाँवों की गति बन
गली गली में
सड़क सड़क पर
चौराहों पर, हर थाने पर, हर गद्दी पर—
युद्ध क्षेत्र है
कुरु क्षेत्र है ।—

शोक-सभा

वे सब के सब चले गये
जो आख़िर में आये थे
और सबसे आगे बैठे थे
और बीच में ही उठकर चले गये,
पीछे वालों की नियति थी
उन्होंने उस ख़ाली जगह को भर दिया
जिसे वे सब के सब छोड़ कर गये थे।

वे जो चलते फिरते आये थे
बैठे ही नहीं
एक आवारा हवा की तरह
मंच के इर्द गिर्द मण्डराये
दो चार मोमफलियाँ तोड़ी
दाँत के तले दबाईं
और शोक सभा शुरू होने के पहले ही
चले गये
उन्होंने कोई ख़ाली जगह नहीं छोड़ी
क्योंकि उन्होंने कोई जगह ली ही नहीं थी
इसीलिए उनकी जगह किसी ने नहीं ली
वह जैसी की तैसी ही बनी रही !

वे जो दवा की शीशियाँ लिए
घरों में मरीज को छोड़कर आये थे
समय से आये
शोक सभा में शामिल हुए

प्रस्ताव पढ़ते समय—
'आमीन' के साथ साथ चले गये,
रास्ते भर दवा की शीशियों में देखते रहे
आसन्न मरीज़ और शोक सभा के बीच
अपने को टंगा हुआ
दो चार बार अपनी साइकिल पर ही उचके
और फिर तेज गति से चलाते चले गये ।

वे जो तूफ़ानी हवा के साथ
पतझर के पत्ते की तरह
कहीं से उड़ते उड़ते आकर
अटक गये थे
सभा के खड़े होने के पहले ही
वह भी चुपके से चले गये ।

हाशिमपुर में आज से साल भर पहले
जो क़त्ल हुआ था
उसमें वे सरकारी गवाह थे,
वकील से उन्हें सीखना था
कि उन्होंने क्या क्या देखा था
इसलिए समयाभाव में
वे भी चले गये ।

वे भी चले गये
जिन्हें अपनी फ़र्म के मैनेजर
की चौथी शादी में जाना था
और जो सपत्नीक सजे सजाये आये थे
हाथ में पतंगी कागज में लिपटा तोहफ़े का पैकेट
जेब में सेहरे की ग़ज़ल
चेहरे पर अंगलेप
आँखों में काजल
वे आये

उन्होंने मृतात्मा के तैल चित्र को देखा
मन ही मन बोले—
"वही था" "जो नहीं रहा"
"होगा" "यह तो दुनिया है"
"मरना जीना लगा रहता है...."
पत्नी ने आँख के काजल को बचाते हुए
आँसू पोंछे
भौंहों से इशारा किया—
और चले गये।

वे जिन्होंने दिन भर
इस तपती धूप में, लू में
हवा के थपेड़ों में मंच को सजाया था,
शोक सभा के लिए मालायें लाये थे
काले कपड़ों पर बड़े बड़े बैनर लिखे थे
काली झण्डियों से पूरे शहर को, गलियों चौरस्तों को
भर दिया था,
आल्पीन और क्रेप से जगह जगह शहादत के नारे लिखे थे
वे भी, शहर, गली चौरस्ते और मंच के
सज जाने के बाद
अपनी रैयायती मजदूरी लेकर
सभा शुरू होने के पहले ही चले गये।

रास्ते भर वे सोचते रहे....
यदि बीबी बच्चे न होते तो
लेकिन वे रुके नहीं—चले गये।

वे जो पताकायें लिए जुलूस में शामिल थे
आगे आगे अपनी छातियाँ पीट रहे थे
और जिनकी आँखों से
निर्झर की तरह आँसू बह रहे थे

सभा भवन में मंच से झण्डे टिका कर
एकदम पीछे जाकर
खाकी बीड़ी सुलगाकर पीने लगे,
छाती की हड्डियों में जो दर्द था
सहलाने लगे,
एक दूसरे की जेब टटोलने के बाद
वे दारू की कीमत याद करने लगे,
हर हादसे के बाद—
दारू पीने की उनकी आदत है
उन्हें यह भी नहीं याद रहा
कि जिस नायक की शोक सभा में वे आये हैं
उसके चरित्र में बीड़ी का कोई स्थान नहीं था
दारू उसने चखी नहीं थी
वह तो एक सादा आदमी था ।

लेकिन वे अपने नायक के गम में
एक पर एक बीड़ियाँ सुलगाते जा रहे थे,
और बार-बार इस चिन्ता में थे
कि सभा समाप्त हो
और वह घर जाने के पहले
कुछ दारू दवा लें ।

इन्हें मैंने हर खुशी गमी में
हमेशा चीखते चिल्लाते देखा है
यह जय जयकार भी कर लेते हैं
और हाय हाय भी कह लेते हैं
ये शोक सभा में शामिल नहीं होते
ये शोक सभा को टहलाते घुमाते, चलाते फिराते
जमने से पहले और जमने के बाद
अक्सर चले जाते हैं ।
सो वह भी चले गये ।

अब नभा मण्डप में कोई नहीं है
केवल सन्नाटा है
और मंच पर नत मस्तक लैम्प-पोस्ट है
कुछ पतंगे,
पीली रोशनी के आस-पास
एक गर्द भरा हलक़ा है,
एक घटित और अघटित के बीच
टंगी हुई आशंसा है,
एक मैं हूँ जो इस सुनसान मण्डप में
केवल यह देखने आया हूँ
क्या कहीं कोई खाली जगह है ?
जहाँ मैं खड़ा हो सकता हूँ
और दूसरा
वह एक लंगड़ा भिखारी है
जो हम सबके प्रारब्ध की भाँति
हम सबसे पहले आया था
और सब के चले जाने के बाद भी
अनमना सा बैठा उदासीन
हाथ मल रहा है ।

सच बताओ वह कौन है ?
कहीं तुम्हीं तो नहीं हो
जो हर कथा-यात्रा के शुरू होते ही
अपना ऐश्वर्य गिरवी रख,
किसी भिखारी की कथरी ओढ़
सब से पहले आ जाते हो
और सब के चले जाने के बाद भी
स्थिति-प्रज्ञ, निस्पृह से
हमारे क्रियामान कर्म को ढँक लेते हो ?

सच बताओ
पहले और आखिरी के बीच
तुम कौन हो ?

अमूर्त-संकल्प

मैंने तो रेत उठाई थी
तुम साकार हो गये
बोलो पार्थीव !
तुम्हारा अभिशेष कैसे हो
क्योंकि नीराजन इस मरुस्थल में
संभव नहीं,
विसर्जन का कोई अर्थ नहीं
क्योंकि तुम जल के बिना रेत ही रहोगे।

सच बताओ
क्या तुम मेरे अमूर्त-संकल्प मात्र
बन सकोगे ?

●

रचना : कालजयी

वह फूल जो कल खिला था
वह आज भी खिला है
और कल भी खिलेगा ।

वह : शब्द जो कल कवि ने कहे थे
वह आज भी कह रहा है
और कल भी कहेगा ।

वे अर्थ जो पाञ्चजन्य से गूँजे थे
गुडाकेश ने सुने थे,
आज भी कह रहा है पार्थसारथी
और सुन रहा है सव्य साची
कल भी वह कहेगा—
और सुनेगा कोई धनंजय धैर्यवाही ।

रचना हो चाहे जिसकी
ईश्वर परात्पर ब्रह्म की
मानव की,
कवि, स्वयम्भू कीं,
वह पकती है आत्मा की आँच में
प्रखर होती है,
सीझती, चुरती और रीझती है दृष्टि में
वह होती है कालजयी,
वह थी कल

और है आज भी
कल भी रहेगी।

बांधो, शब्द को जितना भी बांधो
शब्द अर्थ नहीं होता,
अर्थ की कोई अर्गला नहीं होती
उसके होते हैं वृत्त, स्वराघात, बलाघात।

मेरा मौन भी मुखर है
फूल ही नहीं पत्तियाँ भी बोलती हैं,
गंध की भी होती है भाषा,
मलयानिल न सही
जाज्वल्यमान लू के झुलसते थपेड़ों में भी
अपनी अर्थवत्ता ले
वह झुलस कर जीती है
कह जाती है सब कुछ
वह जो कल उसने कहा था
या कल वह जो कहेगी
यानी वह सब कुछ
जो झंझा के प्रबन्ध में नहीं आता।
अर्थ की आस्था
बालू की दीवार नहीं होती।

वह गंध है पुष्प की
लहर है गति की
ज्वार है अन्तरिक्ष की,
आकाश शब्द ही सही
अर्थ है उसका
प्रत्येक कण देदीप्तमान।

नक्षत्र जो उगा था कल
आज भी उगा है
और उगेगा वह कल भी।

कौन कहता है मैं हूँ निराश
मैं हूँ अनास्थावान
मेरे ये अस्थि पंजर है।
गीता,
पुरान

ये कल भी जीवित थे
आज भी जीवित हैं
रहेंगे वह जीवित कल भी ।

वह फूल जो कल खिला था
वह आज भी खिला है
और कल भी खिलेगा ।

●

आपातकालिक

आज सुबह सुबह
एक हेलीकॉप्टर से घुरहू के खपड़ैल वाले मकान पर
वह निहायत ही फ़ाहिशाना अन्दाज़ में उतरी,
सारे छप्पर के ठाठ चरमरा गये
छाजन बैठ गड़े
घुरहू को लगा—औरत नहीं
कोई देवी प्रकट हो गई है,
वह अपने फूटे लोटे में पानी, लौंग, कपूर ले कर दौड़ा
देवी को धार चढ़ती है
इसलिए उसने अपना कफ़न बेचकर लौंग ख़रीद रखा था
जाली नहीं
असली जापानी कपूर भी
बच्चे की ताबीज़ गिरवी रखकर मँगवा लिया था।

औरत ज़िद्दी थी—
उस फूहड़ किसान की इस गुस्ताख़ी से नाराज़ हो
उसने सारा गाँव ही उजड़वा दिया,
घुरहू को पकड़वा कर क़ैद करवा लिया,
फूटा लोटा, धार का जल, लौंग, कपूर
सब का सब उसने नीलाम करवा दिया
पूरा गाँव उसने अपने नादान बेटे को—
घरौंदे बनाने के लिए दे दिया
बहुत देर बाद पता चला—
वह ज़िद्दी औरत घुरहू पर इसलिए नाराज़ थी कि—
उसने पानी की धार क्यों चढ़ाई

लोगों ने कहा—"इसलिए कि खून उसके जिस्म में नहीं था।"
"तो क्या हुआ ? खून की जगह पानी चढ़ाना जुर्म है।"
घुरहू आज भी जेल में है।

उसके घर का छप्पर छाजन
पुरातत्व विभाग ने ले लिया है
नीवें खोदी जा रही हैं,
शायद मोहन जोदड़ों उसके नीचे दफ़न हो।

खबर हमेशा आग की तरह फैलती है
और बदबू की तरह गन्दली अफ़वाहें बिखेरती है
उस ज़िद्दी औरत के पहुँचने की ख़बर शहर में पहुँची
सुबह सुबह कलईनुमा शकलों की भीड़
घुरहू के घर के इर्द गिर्द बढ़ने लगी,
यानी आल्मूनियम, स्टेनलेस-स्टील, टीन
और ख़ाली खोखली जंग लगी शकलें
सहसा शहर से निकलीं और गाँव पर छा गई,
कोयला बीनने वाले काले-काले बच्चे,
गोबर को डलिया लिए हर गाय भैंस के पीछे-पीछे चरागाहों में
दिन रात तपने वाली छोटी-छोटी लड़कियाँ,
फले आम के पेड़ों पर अकस्मात ढेला मार कर
भागने वाले छोकरे;
चीथड़ों की तरह सड़कों पर लावारिस फिके हुए
घिनौने घूर के लत्ते से—
छोटे-छोटे अविकसित कालिदास, सूरदास, अफलातून, अरस्तू
उस जिद्दी चुड़ैयल औरत को
अपनी मटमैली आँखों से घूरने लगे
मेम साहब की उभरी छातियों के बीच
पड़ी काली माला देख
वह मन ही मन खुश होने लगे

और तभी उन्होंने देखा—
एक दैत्याकार पंजा उन बच्चों को
टोकरियों में भर कर
पास उमड़ते समुद्र में फेकने लगा;
समुद्र कोई जरूरी नहीं बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तक ही
सीमित हो
हर शहर जंगल काट कर बसता है,
नदियों का जल उतार कर उगता है,
समुद्र पर गाड़ी वालों का कटरा है
जहाँ सीपियों, घोंघों और सेवारों की तरह
उबकाइयों के बीच आदमी रहते हैं,
लेकिन जिनकी जिन्दगी दरियाई घोड़ों के बीच जीती है
और सूखी हुई नीरस चमड़ी
कछुए की पीठ की तरह
मितली पैदा करने वाली होती है
और केवल सूखे सरोवरों को पैदा करती है।

जाने क्या बात है ?
यह जिद्दी औरत जब कभी भी कहीं जाती है
एक दुर्घटना की तरह उतरती है
और फातिहे की नेमाज़ की तरह
सारे शहर को मनहूस कर जाती है।

आज वह फिर आई है,
रोज़े के दिन ही रमज़ान मियाँ की बकरियाँ ज़िबह कर दी
गई हैं,
अभी-अभी शहर में आशिक मिजाजों का एक जुलूस निकला है
हर आशिक एक-एक प्लेट में अपना दिल, जिगर, गुर्दा,
दिमाग लिए
सीना कूबी करता निकल गया है
अजायबघर के नहीं,
भुखमरी में मरे इन्सानों के ठाठरों से फाटक बना दिये गये हैं,

बन्दनवार, तोरण, पताकाओं से सजी सड़कों पर पानी नहीं
गोलियों, संगीनों, और लाठियों से ताजा लहू निकलवा कर
छिड़कवा दिया गया है,

दो चार हरी दूबें जो तारकोल की सड़कों पर, सीना तोड़कर
अपनी बरजस्ता उग आने की आदत से मजबूर
हरियाली लिए उग आई हैं,
उनको तराश कर, उनकी जड़ें खोदी गई हैं
और तेज़ाब न मिलने पर
महामारी के कीटाणुओं से उनका सर्वनाश किया गया है
हदें बाँध दी गई हैं
और सारे शहर को एक कटघरे की शकल में बदल दिया गया है।

सारी मनहूस बिल्लियों को स्वागत में
ट्रकों में भर-भर कर बुला लिया गया है
उसमें बिल्ले भी हैं,
जो खुद ही अपने दाँतों से अपनी औलाद काट डालते हैं,
और हमेशा अपने जिस्म के रोयें दुम्बा भेड़ों की तरह
फुलाये रहते हैं,
आसपास के सन्नाटे पर गुर्राते हैं।

अभी-अभी पशुपालन विभाग द्वारा
तरह-तरह के विलायती और देसी नस्ल वाले
एलसेशियन और हाउण्ड्स इन सड़कों पर छोड़ दिये
गये हैं
चौरस्तों, गलियों, मोड़ों और चौराहों पर
उन्हें सफ़ेदपोश बनाकर
खड़ा कर दिया गया है

जगह जगह पर,
गिलहरीनुमा औरतों को झाड़-पोंछ कर
सजा दिया गया है

साफ़-सुथरे लिबासों में
अजीब किलहटियों की तरह लगने वाले
"रायल ब्लड" वाले अनगिनत जिस्मों पर
सुरखाब के पर लगा दिये गये हैं,
हर जगह हम एक धोखे से दूसरे धोखे तक ज़िन्दा रह सकें
इसके लिए इश्तहारों का अम्बार लग गया है।

यह ज़िद्दी औरत जो अभी-अभी
हेलीकाप्टर से घुरहू के खपड़ैल पर उतरी है
कुछ घण्टों में इस कटघरेनुमा शहर की सड़कों से गुज़रेगी
हर फाटक चरमरा कर स्वागत में झुकेगा
हर जिस्म लड़खड़ा कर द्राविड़ प्राणायाम करेगा

पूरे शहर के जिस्म में
अपंग कोढ़ियों के जैसे ठूँठनुमा हाथ-पैर
उगने शुरू होंगे
फिर उन ठूँठ हाथों में टेढ़े-मेढ़े घिनौने पंजे,
फिर उनमें नितान्त उबकाई पैदा करने वाले नाखून,
फिर उन नाखूनों से,
स्वयम् अपना ही जिस्म फाड़ता-नोचता
पूरा शहर लहू लुहान।

क्योंकि
वह ज़िद्दी औरत जो अभी-अभी उतरी है
उसे शहर का यही रूप पसन्द है,
इसी माहौल में जब वह—
हज से लौटी हुई बिल्ली की तरह
अपनी कंजी आँखें लिए निकलती है
तो—
शहर के सारे चूहे उसे अभिनन्दन करते हैं
अपनी-अपनी दुमें उठा कर एक साथ
अभिवादन करते हैं

और अपने रोयें झाड़कर
पिस्सुओं की ऐसी फ़सल उगा देते हैं
जो पूरे शहर में महामारी फैला कर
खुद भी मर जाते हैं।

अभी-अभी पूरा शहर एक मैय्यत-सा
बुलडोज़र पर लाद दिया गया है
क्योंकि—
उस ज़िद्दी औरत को
वही शहर पसन्द आता है
जिसकी जड़ें मिट्टी में न हों
और जो—
देखने-सुनने में भी
अपनी ज़िन्दगी न जी सके;

यानी आज
पहली जून १९७५ को
कफ़न में लिपटे इस मैय्यतनुमा शहर पर
कुछ ऐसी रूहें मण्डराने वाली हैं
कि जो दिन दहाड़े
घरों से दूध पीते बच्चे चुरा लेंगी,
ऐसे पतियों को दोज़ख बख्शेंगी
जिन्होंने ने शहवत में अपने सिवा
किसी तीसरे का नाम लिया होगा।

कल ही सारी रात अँधेरे में
अनगिनत लोग काले घोड़ों पर सवार,
काले नक़ाबों से लैस,
अजनबी चेहरे लिए
शहर की काली नंगी सड़कों पर घूम रहे थे
औरतें अपना-अपना आँचल दाँत से दबाये भाग रही थीं,
बच्चे सहमे-डरे से घरों के दरोचों से झाँक रहे थे

ताज़िये की भाँति रंगीन शहर की उदासी
और गहरा गई थी।

हमें लगता था
हमारी पक्की इमारतों से निकलते हुये
काले धुएँ शहर को नहीं निगल पायेंगे
घुटन में डूबी-डूबी आत्मायें
दफ़न होकर हमारे सात पुश्तों की
आत्माओं के साथ मिल जायेंगी,
क्योंकि यह ज़िद्दी औरत
उस कहानी की पहली खलनायिका है
जो घुरहू से लेकर घनश्यामदास तक—
केवल ज़हर ही ज़हर फैलाती है
सच मानो—
इनमें से कोई भी ज़हरमोहरा नहीं हो पायेगा,

क्योंकि—
सभी अपने-अपने कन्धों पर
अपनी प्रेत आत्मायें लिए घूम रहे हैं।
कहानी का सिलसिला गुलबकावली से लेकर
मलिन मनरो तक अभी अधूरी है
और वह पेड़
जिस पर बार-बार हमारे कन्धों का बैताल
जाकर लटक जाता है
वही पेड़ है जिसके फल को विषैला बताया जाता था
लेकिन फिर भी
जिसे एक ज़िद्दी औरत ने हमें खाने पर मजबूर कर दिया था।

सिलसिला एक सिलसिला होता है
आदम से हौआ और आदमी से औरत तक
उसका सिलसिला वैसा ही होता है
कभी वह अलिफ़ लैला के क़िस्से-सा

सिन्दबाद के कन्धों पर उगता है
और खत्म होता है उस वीरान रेगिस्तान में
जहाँ एक भी आदमी नहीं होता,
केवल आदमी और आदमियत की
एक हल्की-सी याद होती है
आदम की कहानी जिस ज़िद्दी औरत से शुरू हुई थी।
घुरहू और घनश्यामदास की कहानी
उसी तरह एक ज़िद्दी औरत की दास्तान से बँधी है

देश का देश आज एक रेगिस्तान की ओर बढ़ता जा रहा है
नदियों में पानी सिमटता जा रहा है
पहाड़ों पर औषधियाँ समाप्त होती जा रही हैं
ज़मीन के नीचे पानी के सोते सूखते जा रहे हैं
आदमी की ऊचाईयाँ घटती जा रही हैं,
और अभी तक जो जानवरपन की बू
उसके जिस्म से आती थी—
वह बढ़ती जा रही है
कहते हैं—
उस ज़िद्दी औरत को
या तो देवता पसन्द है या शैतान
या तो अमृत पसंद है या विष
वह पानी से नफ़रत करती है
मिट्टी उसकी चाहत में नहीं आती।

उसके चम्पई रंग की जिल्द पर
या तो खून की मालिश होती है
या ताजा कस्तूरी की
और अपनी सल्तनत में वह बार-बार
एक ही कोशिश में तल्लीन है
और वह यह कि
आदमी में बची-खुची आदमियत की बू
एकदम समाप्त हो जाय

जानवरपन की गंध इतनी बढ़ जाय
कि हर आदमी आदमी की शकल में ही जानवर लगे
यानी सब सपाट चेहरे वाले काठ के लोग हों
जगन्नाथ की मूर्तियाँ जैसी ठूठें हाथों को फैलाये—
उसके सामने खड़े हों
कहीं से उनमें इन्सानियत छू न जाय
आदमी की आदमीयत भी
एक अछूते सपाटपन में बदल जाय।

आज बरसों से इस शहर में
काला सूरज ही उगता आ रहा है,
बरसों से एक मटियाली रोशनी में
यह पूरा शहर डूबता जा रहा है,
बीज खेतों में नहीं नालियों में उगने लगे हैं,
शहर का एक-एक लैम्प पोस्ट
खामोश सलीब सा
आदमी की तलाश में है,
और पूरा शहर जिसमें आदमी ही आदमी बसते हैं
उस करिश्मे वाली औरत की खातिर
सपाट चेहरे वाले होते जा रहे हैं,
सारी ज़िन्दगी एक गुस्सैल भुन्नाये हुये साँड़ की
सींग पर टँगी है
और इस मटियाली रोशनी वाले शहर में
धूप की तलाश में हाँफ रही है।

जाने कब वह उन सींगों से गिरकर
खून से लथपथ हो जाय—
जाने कब एक बन्द ताबीज़ में क़ैद मंत्र-सी
यह ज़िन्दगी अकुला जाय—
जाने कब अंगारों वाला सूरज
पृथ्वी फाड़कर उग आये
जाने कब रोशनी एक नदी बनकर बह जाय

जाने कब शहर की तमाम काली बिल्लियाँ
जो अन्धेरे में काले तेन्दुये-सी दिखती हैं मर जायँ
जाने कब एक घटना ही दुर्घटना में बदल जाय,

और हमें अपनी परछाईयों के सहारे चलना पड़े
अँधेरे के सैलाब में जिनका मिलना मुश्किल होता है
और उजाले के दामन में जिनकी साख घट जाती है
ऐसा लगता है
जैसे एक सफेद नागिन
किसी शहज़ादे की लाश पर गुलबकावली चढ़ाने के लिए
लाशों को हाँक कर परियों के देश में ले जाना चाहती है
जहाँ हर फूल एक ताबूत हो जाता है
और हर ताबूत बदले में एक लाश की माँग करता है
और जहाँ सभी मौत के भूखे और जिन्दगी के प्यासे होते हैं।

सफेद नागिन आज जरूरत से ज्यादा खुश है
क्योंकि सपनों का शहजादा मर चुका है
और गुलबकावली की नसल अब इस देश में नहीं उगती,
और परियों के देश में कोई फरिश्ता परियों के सामने ही
सारे फूलों को साँप बना कर चला गया है,
और तब से उस सफेद नागिन की हवस और तेज हो रही है
वह जानती है साँप साँप ही है उन्हें फूलों में नहीं बदला जा सकता
लेकिन आदमी आदमी ही है
उसे हर कीमत पर हाँका जा सकता है।

कंचनमृग अब इस देश में काव्य में भी वर्जित है
लेकिन फिर भी हजारों राम हैं जो हर बकरी को कंचनमृग समझ
उस जिद्दी औरत के लिए मृगछाला लाने के लिए प्रस्तुत हैं,
शहर के सारे तस्कर व्यापारी जो अभी तक भड़भूंजे का काम कर
रहे थे,

धनुष-बाण लेकर
बकरों की तलाश में निकल पड़े हैं
और सब के सब खरगोश के कान उखाड़ कर ले आये हैं
उनका ख्याल है जिद्दी औरत को मृगछाला की पहचान नहीं है
खरगोश की जगह किसी और जानवर की खाल हो
तब भी उसे खुश किया जा सकता है;

लेकिन वह भी खूब जानती है
और जान-बूझकर खरगोश के कान से ही संतुष्ट है
क्योंकि उसकी निजी दिलचस्पी खाल में नहीं
उस धोखे में है जो सरासर सफेद को स्याह
और स्याह को सफेद कर सके
हर बेहयाई को एक कामयाब साजिश
और हर कामयाब साजिश को
एक धोखे तक पनपा सके।

जंगली सूअरों की तरह हमारे देश में एक जमात है
जिसके पास विवेक की जगह नाक के ऊपर
एक त्रिषैला सींग उगा रहता है,
और जो पहचान, सुराग, और दिमाग की जगह
केवल अन्देशों की आहटों पर
चलता, फिरता, देखता, सूँघता, जानता, पहचानता है
कल वह एक पहाड़ खोदने में लगा था
क्योंकि उसे एक चुहिया की गंध मिल गई थी,
आज वही समुद्र में सतुआ सान रहा है
क्योंकि उसे विश्वास है
वह समुद्र में सोख्ता डाल कर
उसके अतल की सारी मणियाँ निकाल लेगा।

कल से वही जमात
फिर हमारे शहर में मण्डरा रही है
और शहर के दर ओ दीवार पर

यह लिखवा दिया गया है
अगर एक भी आदमी होश ओ हवास में
चलता-फिरता पाया जायगा
या कि—
खुद अपने से उठता-बैठता पाया जायगा
तो उसे जिन्दा दफ़न कर दिया जायगा ।

तब से पूरे शहर में
लोग चलते नहीं घिसटते हैं
घुटनों के बल रेंगते हैं
बोलते नहीं : एक दूसरे के स्वर में स्वर मिलाकर रेंकते हैं;
और हमारे इस शहर के बग़ल में बसा दूसरा शहर
और दूसरे के बगल में एक और दूसरा
और उस दूसरे के बग़ल में बसा तीसरा
और उस तीसरे के बगल में बसा एक और तीसरा
और तीसरे के बगल में चौथा और चौथे के बगल में पाँचवाँ
यानी एक के बगल में एक
सरसों के दाने की तरह बसा पूरा देश,
और लीक के बगल में, लीक पर लीक के ऊपर लीक के पास
लीक के बगल में लीक
और इस प्रकार पूरे काल की चक्रवाती वृत्ति,
रेंगते और रेंकते घिसटते लोग
और वह जिद्दी औरत
हाथों में असंख्य मालायें लिए
एक पर एक बिखेर रही हैं,

क्योंकि इस पंगु और गूँगे देश की
वह आलोक मंजूषा है
यानी सब कुछ उसके हुस्न और इश्क़ का तरजुमा है ।

पूरा देश एक सपाट नरमुण्डों का मेला है
आप चाहे इस मेले को देश कहें या लोग

यहाँ सारा सब कुछ आत्मभोग नहीं
उसका निजी उपभोग बनकर ही जिन्दा है
वह तो है [illegible]—
लेकिन सारा देश मुर्दा है !

कांच की दीवार पर
आरी की किरकिरी नुकीली आवाजें बढ़ रही हैं,
रेत जैसे दाँतों तले किरकिरा रही है;
गति के पहिये धुरी में उलझे स्वयम् अपनी ही
गोलियाँ चबा रहे हैं;
जैसे कोई किसी ग्रेनाइट पर फौलाद की धार तेज कर रहा है,
और करखती आवाज लकीर बन कर
दिमाग में चुभ रही है
यानी एक दाग-बेल
दूसरी दाग-बेल के बगल में रगड़ पैदा कर रही है
शहर से गाँव तक की सभी पनचक्कियाँ खामोश हैं,
और उनकी छुक-छुक की आवाज की जगह
इस तेज़ तेजाबी नश्तर की लकीर
खरोंच पैदा कर रही है,
और खरोंच निरन्तर बढ़ रही है
एक अमरबेल की तरह यह आवाज
सारे गाँव शहर कस्बों पर छा रही है।

जिस जिद्दी औरत को यह सारी मनहूस आवाज़ें पसन्द हैं
जो हमारे दिल ओ दिमाग पर तेज नश्तर की तरह चुभती हैं
वही वह संगीन का राग है
जो उसे तरोताजा रखती है

शायद ऐसी ही आवाज रही होगी
जब अपने कन्धों पर सलीब लिए
एक लम्बा कारवाँ लड़खड़ाता हुआ
अपने को एक लाश में बदलने के लिए बढ़ रहा होगा

या ऐसी ही आवाज रही होगी
जब शाहे सुलेमान के जुलूस में
अनन्त मानव समूह
रथ के आगे-पीछे घिसट रहा होगा,

या नील नदी के किनारे
जलदस्युओं के बीच एक काले लोगों की भीड़
आदमी से गुलाम बनने के लिए
उस जहाज के इन्तजार में गुमसुम
जलदस्युओं की जंजीरों में बँधा
जीव से पदार्थ में बदल रहा होगा,
लेकिन आदमी की याददाश्त ही कमजोर है
इतिहास जब भी चुकता है
सरकता है झुकता है
तो इस तरह की चुभने वाली आवाज़ें पैदा करता है
जो हम सब के दिल ओ दिमाग में चुभती हैं,
भाले की नोक पर उछली हुई जिन्दगी
लौट कर फिर उसकी नोक पर ही लौट आती है;
हम सब की आत्माओं में पिरो उठती है
और हम सब गुत्थमगुत्था होकर
एक हुजूम बन जाते हैं
और निकालते हैं अपनी बिना नाखून वाली उँगलियाँ
कोशिश करते हैं इस तेज़ाबी आवाज़ की शमशीर को
निकाल फेंकें........

कैसा लगता होगा
अपने ही पंजों से अपने दिमाग को फाड़ना
खरोंच-खरोंच कर एक किरकिरी लकीर निकालना
अपने ही खून से लहू लुहान हो
अपना ही शृङ्गार करना

लेकिन जब यह सब होता है
तब यह जिद्दी औरत हमेशा

अपने सिर को अपने आँचल से ढँक
नितान्त निरीहता के साथ याद दिलाती है
उस रज़िया की
जिसके पास अन्त में
याक़ूत के कफ़न की एक चीर ही बची थी।

देश आज जहाँ बेचैन है
और जिस लपट में
रग औ रेशे के साथ हमारा अस्तित्व चुर रहा है
वहाँ एक लावारिस लाश की सौगन्ध-सी
हमारी आँखों की रोशनी पिघल रही है।

उस लावारिस लाश की
न कोई मरियम है और न खुदा
वह लाश हम सब के कन्धों पर लदी-लदी
हमेशा चलती है
उसके आजानुबाहु हमारे टखनों से टकराते हैं
और जब कभी भी हम तेज चलने वाले होते हैं
वह दुहरी होकर हमारे पैरों से भिड़ती है

और वह जिद्दी औरत
जो अभी-अभी इस शहर में आई है
लगातार अनवरत उसी लाश की तलाश में
घूम रही है,
इसलिए नहीं कि उसका हमारे दुखते कन्धों,
कबन्ध आत्माओं के प्रति कोई मोह है,
बल्कि इसलिए कि—
यदि एक ही लाश हम सबके कन्धों पर लटकी रहेगी
तो लाशों का हुजूम जिन्दा हो जायगा
और यदि लाशों का हुजूम जिन्दा होगा

तो पूरा देश उस जिद्दी औरत की खातिर
जिन्दा लाश हो जायगा,

उसे मनहूस सपने आने लगेंगे
रगड़, टकराहट आग की चिनगियाँ पैदा करेंगी
इस पूरे शहर और शहर से गाँव और गाँव से पूरा देश
आग सुलगाने में दक्ष हो जायगा।

वह सोना भी उस भयंकर लपट में
तप-निखर कर चमक उठेगा
जिसे वह मिट्टी समझ अपने आसपास से
दूर रखने में ही सेहत मानती है।

हर अलाव फौलाद उगलेगा
और हर पिघला हुआ फौलाद
रोशनी का दरिया बन जायेगा
और रोशनी फिर काले सूरज के साये में
दबेगी नहीं
और सूरज रोशनी का धब्बा बनने के बजाय
रोशनी का एक ऐसा अजस्र-स्रोत बन जायगा
जिसमें पहाड़ों की सारी वनस्पतियाँ चमक उठेंगी
औषधियाँ में सोम बरस पड़ेगा।

और वह लावारिस लाश
जो हमारे कन्धों पर है
सूरज के सातवें घोड़े की
चौथी टाँग में गति भरता आगे-आगे दिखेगी

यानी ज्योतिवाही अग्नि पिण्ड-सा
वह हमारी सारी क़समों का भार वहन करेगा
सप्त-ऋषि केवल ध्रुव का नहीं
पूरे सौर मण्डल का परिक्रमा करते रहेगा।

कल सुबह-सुबह
एक [illegible] पर घुग्घू के खपड़ैल से
वह जिंदा औरत नहीं
वहाँ से निकलेगी जिंदा आग की लपटें
और वह बना देगी सारे [illegible] को धधकती तेजाबी आँच
वाली भट्ठी
पैदा करेगी कागजी पैरहन वाले इन्सान
आग से जनमने वाले फ़रिश्ते
और पानी की लाश में बेचैन रूहें
जो सारे काल और दिक पर छा जायेंगे
वह पानी की तलाश में भटकेगी नहीं
उर्वरा धरती के वक्ष.स्थल से क्षीर सरोवर उगायेगी

कल सुबह-सुबह
यह ज़िंदा औरत
एक काली छाया-सी
इधर-उधर भटकेगी ।

रोशनी एक दरिया है
जो हम सब की आत्माओं में दफ़न
सीझ रही है ।

कल सुबह-सुबह
नये तीर्थों के साथ
वह जन्मेगी एक नदी बन ।
तीर्थों के तट पर होंगे पावन गीत
तब तक के लिए अलविदा ! विराम !

घर बाहर

सड़कें ठहर गयी हैं
मेरा आँगन चलने लगा है
और घर की तुलसी चौराहे पर
चीख़ रही है।

दरवाजे एक मजलिस के मेहराब बन रहे हैं,
और यह ठण्डी दीवारें
चोबों सी टंगी
शामियाने की चादरें संभाले हैं,

लगता है अभी अभी कोई उत्सव
ख़त्म हुआ है,
वैसे कोई जशन कभी मना ही नहीं
लेकिन, थकान, उतार
झुझलाहट भरी उदासी
वैसी ही हैं
जैसे किसी उत्सव के बाद होती है।

मैं जब भी घर में होता हूँ
सारा शहर, सारा हंगामा, सारा शोर
सारी घटनायें, दुर्घटनायें
मुझ में समाई हुई घर में आ जाती है;
सड़कों पर ज्यादा आराम मिलता है
क्योंकि वहाँ मेरे साथ शहर नहीं होता,
वहाँ मैं शहर के साथ होता हूँ।

●

दो आँखें

सुनो मेरे दोस्त
मैंने ज़िन्दगी को किताब की तरह पढ़ा नहीं है
उसे मौत के जबड़ों के बीच से छीन कर जिया है
इसलिए ज़िन्दगी मेरे लिए न तो हादसा है न हदीस
वह हमेशा एक तस्बीह की तरह रही है
जिसका दाना दाना अलग-अलग मेरी मुट्ठियों में क़ैद रहा है।

मैं कभी किसी खुशी के पीछे दौड़ा नहीं
वही हमेशा मेरे पास आई है
और जब वह आई है तब मैंने आगे बढ़कर
उसका स्वागत किया है
जब तक रही, उसे बाइज्जत रखा
जब जाने को हुई, बाक़ायदा विदा किया
इसीलिए मेरी आँखें न तो नम हुईं और न मग़रूर
वह हमेशा कृतज्ञ रही उस अनुकम्पा की
जिसके सहारे सारी सृष्टि जीवित है।

तुम यकीन मानो मेरे दोस्त
मैंने कभी किसी दुख या मुसीबत को पीठ नही दिखाई
वह जब भी आई सिर आँखों पर लिया
उससे अपना रिश्ता जोड़ा
अपनी सलीब अपने कन्धों पर लेकर चला
हर ताबूत को अपना घर
और हर कब्र को अपना आस्ताँ बनाया
यह बात और है कि मुसीबत में चेहरे पर कुछ शिकन नज़र आये

लेकिन मैंने जब कभी भी
अपने दिल के आईने को देखा
मुझे अपना अन्तस हँसता हुआ मिला
एक गुलाब पर पसीने की बूंद मिली तो क्या
मैंने उसे भी ओठ से लगाया

यह सुख, यह दुख दो आँखें हैं
जिनके बिना ज़िन्दगी तलख़ नज़र आती है
जीवन में जिन के सुख ही सुख हैं वह अन्धे हैं
और जिनके जीवन में दुख ही दुख है, वह बुद्धिमान हैं
क्योंकि सुख हमेशा धृतराष्ट्र पैदा करता है
और दुख को हमेशा एक कृष्ण मिलता है ।

मैंने जीवन में कृष्ण को खो खोकर पाया है
और अपने अन्धे सुखों को भी
उन्हीं को समर्पित कर दिया है ।

●

नया वाङ्मय

वृक्ष शब्द हो रहे हैं
फूल अलंकार
पत्तियाँ ध्वनि बन रही है
कलियाँ आकार !

धूल भरी वन खण्डी पंक्ति बन रही है
पगडण्डियाँ अर्थ साकार
नदियाँ भाव
पहाड़ विराम चिन्ह
झाड़िया प्रश्न वाचक भेद ।

एक सम्पूर्ण व्याकरण
वाक्य-विन्यास के पीछे दौड़ रहा है
शायद एक भाषा जन्म ले रही है
क्या एक नया वाङ्मय
ऐसे ही जन्मता है ?

●

जिजीविषा

शब्द आज मंत्र होते जा रहे हैं
अर्थ जिजीविषा
वाक्य को खो जाने दो
मंत्र चालित जिजीविषा ही
जीवन के लिए काफ़ी हैं।

●

अपनापन

जीवन को जब कहीं भी न्याय नहीं मिला
उसने सागर के हाहाकार को सुना,
जीवन को जब कहीं भी रस नहीं मिला
उसने नीरस मरू में उगी झाड़ी को देखा,
जीवन में जब कहीं आस्था नहीं मिली
तो हजारों फ़िट से गिरते प्रपात की कल्पना की,
जीवन में जब पथ नहीं मिला
तो पड़ाव पर ही गति की गिनती गिनने लगा
जब कहीं कुछ न मिले
तो वापस आ जाओ खुद अपने पास
यह अपनापन सब कुछ दे देता है।

यह दुनिया

धूप से भरा आकाश
खिलखिलाता है,
धूल से भरी डगर
चिलचिलाती है,
यह दुनिया है
जहाँ खिलखिलाना मना है
चिलचिलाना वर्जित है
लेकिन बिलबिलाना
जारी है।

●

आवाज़

अब आधी रात गये
कहीं से भी गजर की आवाज़ नहीं आती,
कहीं से भी किसी बच्चे के रोने की आवाज़
नहीं आती,
रात को जो एक पक्षी सामने की ठूँठ पर बैठा
अपने पर फड़फड़ाया करता था,
अब जाने कहाँ चला गया है।

किसी मरियम के बेटे का
पुनर्भाव होने वाला है
शायद ज़ख़मी की आवाज़ें
मौन ही होती है।

पुनर्जन्म

जहाँ से भी शुरू करो
गाथा पुरानी हो जाती है,
जहाँ से भी अन्त करो
कथा शुरू हो जाती है ।
जानते हो,
केवल पुनर्जन्म होता है,
जन्म न शुरू होता है
न ही उसका अन्त ।

वनस्पति शान्त कहाँ होती है
हम केवल कहते हैं :
'वनस्पतयः शांतिः ।'
वनस्पति ही जब लय में घुल
स्वरित होती है
नोंक पर आग सुलग जाती है
किसलय ही लय हो जाता है ।

सत्य सापेक्ष

ऋचायें सत्य हैं,
किन्तु यह मृत्युलोक है
सत्य को मृत्यु सापेक्ष होना पड़ेगा
जीवन का सत्य यही है ।

●

दान

उद्गाता ने यजमान से कहा,
अन्न ही ब्रह्म है,
यजमान ने उद्गाता के सत्य को
ग्रहण नहीं किया
उसने अन्न ही दान कर डाला ।

●

सोमपायी

सोमपायी हो तुम ?
जानते हो; हम पानी भी पीते हैं
तो वह सोमरस हो जाता है।
अन्तर यह है कि तुम इच्छा से पीते हो
और हम प्रार्थना से।

●

जिज्ञासा

समिधायें हमेशा धुँआ वहन करती हैं,
यज्ञवेदी का नारिकेल
केवल शंकायें पैदा करता है
जो बलि होता है
वही जन्म दे जाता है
सावधि शंकायें भी,
समिधायें समाधान नहीं
जिज्ञासायें दे जाती हैं।

●